डॉ. ज्योतीन्द्र मेहता, M.A., Ph.D.
उपकुलपति,
म. स. विश्वविद्यालय, **बड़ौदा.**

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के सुयोग्य विद्वान्
तथा गुजरात के सुप्रसिद्ध शिक्षा-वेत्ता।

प्रस्तावना

श्री मदन गोपाल गुप्त द्वारा भारत की पाँच ललित कलाओं पर लिखी गई लघु पुस्तक की प्रस्तावना लिखते हुए मुझे अत्यंत प्रसन्नता हो रही है। लेखक ने प्राचीन भारत की कलाओं—वास्तुकला, चित्रकला तथा नृत्यकला —का अति संक्षिप्त किन्तु विशद विवरण प्रस्तुत किया है।

इस प्रयास के लिये मैं श्री गुप्त जी को बधाई देता हूँ। हिन्दी अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में ललित कलाओं से संबंधित साहित्य की कमी है। अतएव हिन्दी में ललित कला-विषयक वर्तमान साहित्य को लेखक का यह योगदान स्वागत के योग्य है। लेखक ने इस विषय पर हमारे प्राचीन साहित्य का अध्ययन सावधानी के साथ किया है। पुस्तक के इतने छोटे कलेवर में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा नृत्यकला संबंधी हिन्दू-भावना को प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। तथापि लेखक ने इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है, जिसके कारण वह हमारे साधुवाद का पात्र है।

ज्योतीन्द्र म. मेहता
उप कुलपति,
म. स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा.

प्राक्कथन

ऐतिहासिक शोधों पर आधारित अपनी पूर्ववर्ती पुस्तक ' विक्रमार्चन ' के प्रकाशन के तीन वर्षों के पश्चात् प्रस्तुत कृति के साथ हिंदी जगत के समक्ष अपने को प्रस्तुत करते हुए मुझे आनंद के साथ संकोच का अनुभव हो रहा है। साहित्य के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति एवं इतिहास गत कई वर्षों से मेरे अध्ययन के विषय रहे हैं, और हिंदी-साहित्य के अंतर्गत मेरे अनुसंधान का विषय मध्यकालीन भारतीय संस्कृति एवं समाज-जीवन से संबंधित होने के कारण मुझे भारतीय कलाओं के अध्ययन के साथ ही इधर कुछ वर्षों से भारतीय कला के अनेक संस्थानों को देखने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ। अपने अध्ययन तथा विश्वविद्यालय के अध्यापन काल में मुझे यह अनुभव हुआ कि आज यद्यपि हिंदी भाषा, राष्ट्रभाषा के पद को ग्रहण करते हुए सभी प्रकार के विषयों में विचार प्रकट करने का सामर्थ्य प्राप्त करती जा रही है, तथापि उसमें तत्संबंधी साहित्य इतना कम लिखा गया है कि उसका अभाव किसी भी व्यक्ति को खटकना स्वाभाविक ही है। आज जब कि देश की अधिकांश शिक्षण-संस्थायें कला, विज्ञान आदि सभी विषयों की उच्च-शिक्षा हिंदी के माध्यम द्वारा देने का संकल्प ले चुकी हैं, ऐसी अवस्था में तदनुकूल ललित कला विषयक साहित्य नितांत अपर्याप्त है।

मुझे संतोष है कि उपर्युक्त दृष्टिकोण को अपने समक्ष रखकर मैंने यह कार्य यथा सामर्थ्य संपन्न कर डाला है। इस पुस्तक में कला की जीवनगत आधार-भूमि के विवेचन के साथ भारतीय ललित कलाओं के ऐतिहासिक विकास-क्रम का परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। विषय के अधिकृत ज्ञान का दावा करना मेरे लिए असंभव ही है, परंतु यह कहा जा सकता है कि इसमें भारतीय कलाओं से संबंधित संपूर्ण अध्ययन को संक्षेप में उपस्थित करने का यत्न अवश्य किया गया है।

पाठकों के समक्ष यह रचना प्रस्तुत करने के पूर्व मैं म. स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा के विद्वान् उपकुलपति मान्यवर डॉ ज्योतीन्द्र मेहता के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना अपना प्रथम एवं पवित्र कर्तव्य समझता हूँ। इतिहास तथा संस्कृति के उच्चकोटि के विद्वान् श्री उपकुलपति महोदय ने अपने अत्यंत व्याप्रत

जीवन के बीच पुस्तक पढ़ने का समय निकालकर सुंदर प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। इसमें संदेह नहीं कि डॅा. मेहता महोदय का शुभाशीर्वाद प्राप्त कर यह कृति कृतकृत्य हो उठी है, जिसके लिए लेखक उनके प्रति अत्यंत आभारी है। मैं निःसंकोच भाव से कह सकता हूँ कि मान्यवर उपकुलपति महोदय ने प्रस्तावना लिखकर मेरा जो उत्साह–वर्द्धन किया है, उससे मुझे भविष्य में साहित्य की अधिक सेवा करने की प्रेरणा मिलती रहेगी।

आचार्य कुंवर चंद्रप्रकाशसिंह के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान के दो शब्द-पुष्प अर्पित करना भी मेरा परम कर्तव्य होगा। उन्होंने लेखक को सदैव पठन–पाठन में मार्गदर्शन देते रहने के साथ साथ प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में अत्यधिक सहायता करने की कृपा की है। यदि उनका संबल न प्राप्त हुआ होता तो इस गुरुतर कार्य के भलीभाँति संपन्न होने में लेखक को संदेह ही था। अतएव लेखक उनका चिर–आभारी है। पुस्तक के लिखने में अनेक सुधी–विद्वज्जनों के ग्रंथों की सहायता लेनी पड़ी है, जिसके कारण मैं उनका हृदय से सर्वप्रकारेण आभार मानता हूँ। मेरे सहयोगी प्राध्यापक–गण भी इसी प्रकार धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि उनकी सद्भावना एवं सहयोग ने इस कार्य को सुचारु रूप से संपन्न करने का अवसर प्रदान किया है।

पुस्तक के प्रकाशन का कार्य श्री जे. के. शाह, प्रोप्राइटर, शिव पुस्तकालय, बड़ौदा ने बड़ी तत्परता से संभाला है। प्रदेश में गुजरात हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन का संकल्प लेकर इस दिशा में किया जाने वाला उनका उत्साह एवं प्रयास अवश्य ही अभिनंदनीय है, जिसे देखते हुए हमें आशा है कि भविष्य में यहाँ से भी हिंदी जगत को श्रेष्ठ प्रकाशन प्राप्त होंगे। इसी प्रकार श्री गणेश प्रिंटिंग प्रेस के संचालक श्री रामसिंह चुनावाला भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके कि प्रबंध में यह पुस्तक यथासमय मुद्रित हो सकी। प्रूफ संबंधी कुछ अशुद्धियाँ रह जाने के कारण पुस्तक के अंत में शुद्धि–पत्र संलग्न कर दिया गया है। अंत में पुस्तक की उपयोगिता का भार विज्ञ-पाठकों के ऊपर छोड़ते हुए मैं अपना यह कथन समाप्त करता हूँ।

विनीत,

मदन गोपाल

प
न्दरता लोकोत्तर आनंद उत्पन्न करने वाली होती है। संभवतः
ीलिए कला मर्मज्ञों ने उसका मूल उत्स आनन्द माना है। उदाहरणार्थ
ातः काल की उज्वलता, पुष्पों की मुस्कान अथवा चाँदनी रात की
नग्धता में हमें एक प्रकार से शान्ति एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है,
थवा इसे दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, हम कहेंगे ये वस्तुयें हमें सुन्दर
तीत होती हैं। कहना न होगा कि इस सौन्दर्यानुभूति का आधार
धान रुप से हमारा मन ही है। इस मूल तथ्य को ध्यान में रख कर
क विद्वान ने लिखा है-

'It (beauty) exists' only in the mind which
ontemplates them'.

अतएव मानव की सहज प्रवृत्ति सौन्दर्यानुभूति तथा उसकी
अभिव्यक्ति के कारण कला को मन में उद्भूत सौन्दर्य भावना का
रत्यक्षीकरण कहना अनुचित न होगा। व्यक्ति में यह प्रक्रिया अपने आप
किस प्रकार उठती होगी, इसका ज्ञान करने के लिए हमें मानव
संस्कृति एवं सभ्यता के प्राथमिक विकास काल की मूल प्रवृत्तियों पर
ध्यान देना होगा। सभ्यता के आदिम विकास की अवस्था में स्को... अनेक
थियारों द्वारा पशुओं को मार कर उनके मांस आदि से भाषा ... पोषण
करने वाले मनुष्य अवकाश के समय में जब ... उन हथियारों
को साफ, चिकना व चमकीला करके उन्हें आकर्षक ... बनाने का जो यत्न
करता, अथवा उनकी मूँठ पर रेखायें और आकृतियाँ आदि खींच कर
उनके आकर्षण को बढ़ा देने का जो उपक्रम करता था और इतना ही
नहीं अपितु बध्य जंतुओं के टोने-टोटके के लिए अपनी गुफा की दीवाल
र रेखाओं से उनके चिन्ह या चित्र बना दिया करता था तो उसे यह
ल करने से विशेष प्रकारका समाधान या संतोष मिलता होगा।
ीन इतिहास की आज भी मिलने वाली पुरातत्व - सामग्री उसकी

इसी प्रवृत्ति का परिचय देती है। इसी प्रकार जब वह उल्लासत क्षणों में अपने स्वर को आनन्दातिरेक से गेय बना कर उस स्वर को एक ही प्रकार से दुहराता और मधुर बनाता होगा तो अनजाने ही व संगीत कला का (चाहे वह अपरिपक्व रूप में ही क्यों न हो) सृजन करता होगा। इसी आनन्दातिरेक की स्थिति में मानव कायिक संकेत के माध्यम से अपने हृद्गत भावों को प्रकट करता होगा और इसी ने आगे चल कर नृत्य-कला का विकास किया होगा। इस प्रकार हम देखते है कि मनुष्य प्रारंभ से ही अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ कला के क्षेत्र में स्वभावतः प्रवेश करता रहा है। संभव है कि प्रारंभ में उससे वे क्रियायें अनजान में ही होतीं हों, और आगे चल कर उसकी सभ्य और संस्कृत स्थिति में जान बूझ कर। अतएव इसमें संदेह नहीं कि कलाओं का मानव जीवन के साथ गहरा सम्बंध होने के कारण उनका विकास मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ही साथ हुआ है।

भारतीय – कलाएँ–

हृद्गत भावों के निर्माण में देश और काल की परिस्थितियों का अवश्य ही प्रभाव पडता हैं। देश – विदेश के इतिहास में समय, समय पर पोषण वाले ये प्रभाव उसके जातीय जीवन में निरंतर अपनें संस्कार [illegible] रहते है, जिनकी सुदीर्घकालीन परम्परा देश के निजी व्यक्तित्त्व अथवा वैशिष्ठ्य का विकास वहाँ की संस्कृति के रूप में कर देती है। कला हमारे भावों और विचारों की प्रतिकृति होने के कारण देश की संस्कृति की परिचायक होती है। देश-विशेष की मनोभावना उसकी सांस्कृतिक प्रेरणा के द्वारा तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार साहित्य संगीत, नृत्य, आमोद, प्रमोद आदि अनेक रूपों में प्रकट होती है यद्यपि संस्कृति के ये बाह्य लक्षण विविध रूपों में दिख

पड़ते हैं परन्तु आन्तरिक आनंद की दृष्टि से उनमें एकरूपता रहती है। कहना न होगा भारतीय कला भी इस देशगत विशेषता को लेकर अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व रखती है, जो कालक्रम से होने वाले देशगत परिवर्तनों के बीच अपने सुदीर्घकालीन इतिहास के अंतर्गत भारतीय संस्कृति का बाह्य रूप प्रकट करती आई है।

भारतीय कला से भलीभाँति परिचित होने के लिए हमें उसकी उस पृष्ठभूमि का ज्ञान कर लेना आवश्यक होगा जिसके कि आधार पर एक सुनिश्चित दिशा में उसका विकास हुआ है। इसके लिए हमें भारत के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। विगत दीर्घकालीन इतिहास के अंतर्गत इस देश में ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण घटनायें हुई हैं, जिन्होंने भारतीय संस्कृति तथा उसके जीवन पर अपने अमिट प्रभाव डाले हैं। कहना न होगा कि यह भारत भूमि आर्य, पर्शियन, ग्रीक, शक, कुशाण, हूण, तुर्क तथा मंगोल आदि विविध जातियों तथा उनकी संस्कृतियों के सम्मिलन का अद्वितीय क्षेत्र रहा है जो अपनी संस्कृति के विशेषताओं को लेकर यहाँ पर आईं और यहाँ के जातीय जीवन में घुल मिल गईं। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ की संस्कृति अनेक विशेषताओं से संयुक्त हो गई और यदि इसे कवि की भाषा में कहा जाय तो – **भारतीय संस्कृति विविध रंगों तथा सुगन्धियों की पंखुड़ियों से संयुक्त एक शतदलीय कमल की भाँति विकसित हुई है।** भारतवर्ष में सदा से संस्कृति के अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग के रुप में – कला की प्रतिष्ठा रही। गाँवों के सामान्य जन जीवन तक में इसकी जड़ें बड़ी गहराई तक फैली हुई है, यहाँ तक गाँवों और जंगलों में स्वच्छन्द जन्म लेनेवाले लोकगीतों, तारों के बीच विकसित होनेवाली लोककथाओं में, तथा महिलाओं द्वारा घर के सजाव-श्रृंगार में यहाँ की

संस्कृति का अमित भण्डार भरा हुआ है। यही कारण है कि अति प्राचीन काल से यहाँ के मन्दिर केवल पूजा उपासना के ही केन्द्र ही नहीं थे अपितु वे कलात्मक सौन्दर्य के भी अन्यतम संस्थान भी रहे हैं।

भारत के प्राचीन साहित्य में चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें केवल ललित कलायें ही नहीं अपितु बुनाई, कताई, गुड़िया बनाना आदि हस्तकलायें भी सम्मिलित हैं। इन हस्तकलाओं में केवल वस्तु की बनावट, दृढ़ता और उपयोगिता पर ही ध्यान दिया जाता है। दृष्टिकोण को इतनें तक ही सीमित कर देनें में मूल उत्स आनंद का सौन्दर्यानुभूति द्वारा प्रगटीकरण नहीं किया जा सकता। अतएव कला की कोटि में केवल वही हस्तकलायें आवेंगी जिनमें वस्तु की बनावट दृढ़ता और उपयोगिता पर ही ध्यान नहीं दिया जाता, प्रत्युत उनमें किसी प्रतीक का सहारा लेकर इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति की जाती है कि वे हमारी सुसंस्कृत सौन्दर्य भावना को संतुष्ट कर सकें। इस दृष्टि से इस कोटि में केवल वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा नृत्य कलायें आती हैं। कहना न होगा कि इनमें भौतिक आवश्यकता की पूर्ति का पक्ष गौण और कलाकार के आनंद की अभिव्यक्ति तथा उसे सर्व सुलभ बनाने का पक्ष प्रमुख है। जहाँ तक इनकी उपयोगिता का प्रश्न है, इनमें प्राप्त होनेवाला सौन्दर्य लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, स्थूल उपयोगिता उसका अनिवार्य तत्व नहीं है। भारतीय कला के उपर्युक्त विविध रूप ऐतिहासिक घटनाक्रम के बीच स्थित देश की आत्मा अथवा उसकी सौन्दर्योन्मुखी मनोवृत्ति का दर्शन करनेवाले दर्पण के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन कलाओं का इतिहास यहाँ की संस्कृति के आदि काल से ही आरंभ हो जाता है और युग की गति के साथ समय समय पर उत्थान पतन के अनेक युग देखता आया है, जिस पर स्वतंत्र रूप से विचार करते समय प्रत्येक कला पर विस्तारपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया जावेगा।

सभी कलाकृतियाँ मानव हृदय में वर्तमान सौन्दर्य – बोध का मूर्त रुप उपस्थित करती हैं। इस प्रकार उनका मानव जीवन से अभिन्न संबंध होने के कारण उनका तद्देशीय भावना तथा लोकरूचि से अनुप्राणित होना अवश्यम्भावी है। कहना न होगा कि भारतीय जीवन का आधारस्तम्भ, आदि काल से धर्म ही रहने के कारण यहाँ की जनता की धार्मिक प्रवृत्ति का कला के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहा है।

यहाँ का इतिहास यह बतालाता है कि ईस्वी सन् के कम से कम १६०० वर्ष पूर्व से ही भारतीय मनीषा विश्वप्रकृति के साथ आत्मगत तथा उसके आगे बढ़ कर ईश्वरीय संबंधो के संधान की ओर प्रवृत्त रही है जिसका दर्शन उस काल से लेकर कम से कम १८ वी शती तक किया जा सकता है। इतनें दीर्घ काल में यहाँ ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, भागवत, सिक्ख आदि धार्मिक मतों तथा द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक दार्शनिक वादों के अध्यात्मिक आन्दोलनों का प्रवर्त्तन हुआ है। इनसें निर्मित परिस्थितियों ने भारतीय जीवन को प्रभावित कर के उसे धर्म प्रधान बना दिया था। यह इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि इस देश में प्रारंभ से ही धार्मिक श्रद्धा – केन्द्रों की भरमार सी रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सबका निर्माण वे अपना धार्मिक कर्तव्य सा समझते रहें हों। प्राचीन काल के बौद्ध विहारों, चैत्यों तथा स्तूपों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उनका निर्माण धर्म-साधना का मुख्य अंग सा बन चुका था। भारतीयों की यह गंभीर धार्मिक प्रवृत्ति उनके वैयक्तिक तथा सार्वजनिक मंदिरों तथा उनसे संबंधित संस्थाओं जैसे छोटे बड़े विद्याकेन्द्रों, पुस्तकालयों, विवाद-गृह, नाट्यशालाओं तथा अन्न सत्रों आदि में स्पष्टतः प्रकट होती है। देश की सामान्य जनता के अतिरिक्त राजसंस्थायें इस निर्मिति में सोत्साह सहयोग तो देती ही

थीं, और इतना ही नहीं स्वयं भी ऐसे कलापूर्ण भवनों का निर्माण भी करती थीं। इन मंदिरों के निर्माण के पूर्व यहाँ की प्रारंभिक यज्ञमयी संस्कृति की प्रेरणा से वेदियों तथा वेद शालाओंका निर्माण हुआ होगा। इसमें संदेह नहीं, परन्तु इनके चिन्ह आज अप्राप्य हैं।

वास्तव में मंदिर देश के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन के केन्द्र थे। उनके चारों ओर देश के ग्रामीण तथा नागरिक जीवनका विकास होता था। राज्य अपनें प्रबंध का उत्तरदायित्व इन मंदिरों के अधिनायकों पर सौंप देता था, जिनमें महत्वपूर्ण शिक्षासंस्थायें भी थी। कहना न होगा कि, इन धार्मिक संस्थाओं में क्रमशः मूर्तिकला तथा भित्तिचित्रोंद्वारा चित्रकला का भी विकास हुआ, जिसके साथही धार्मिक उत्सवों आदि के अवसरों पर यहाँ नृत्य, संगीत आदि आयोजन भी होते थे। किसी किसी मंदिर में तो धार्मिक गीतों, प्रार्थना आदि के पद प्रतिदिन गाये जाते थे। इस प्रकार हम देखतें हैं कि उपर्युक्त धर्मभावना ने पाँचों ललित कलाओं को अनुप्राणित किया है। उपर्युक्त संस्थानों की स्थापना तथा विकास के लिये राज्य की ओर से विशाल धनराशि के साथ साथ स्थायी भूमि भी सहायतार्थ दी जाती थी, जिसके द्वारा वे अपनें सुधार तथा निर्वाह की व्यवस्था कर सकें। इतना सब होते हुऐ भी इन संस्थानों के प्रबधकों तथा उनकी प्रबंध समितियों को पूर्ण अधिकार प्राप्त थें। कहना न होगा कि प्राचीन कालकी यह व्यवस्था आज भी किसी न किसी रूप में वर्तमान है, यद्यपि उनमें से अनेक का रूप आज वैसा दिव्य एवं महान् नहीं रह गया है।

अतएव भारतीय कला पर विचार करते समय यह सदैव स्मरण रखना होगा कि यह कला ऐसे विस्तृत भूभाग की कला है, जिसके पास सम्यक् रूपेण विकास की एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक परम्परा है।

अतएव उसके निश्चित रूप और वैशिष्ठ्य को सामान्य रूप दे देना अथवा छोटीसी परिधि में सीमित करना असंगत होगा। उसके द्वारा निर्मित आदर्श तथा उनमें से प्रकट होनेवाली विशेषता अनेक और अनंत है। जैसा कि पूर्ववर्ती पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है, विभिन्न कालों तथा पृथक् पृथक् प्रदेशों में विकसित होनेवाली कलायें अपना विशिष्ट रूप प्रस्तुत करती आई हैं, जिनके कारण एक कलामर्मज्ञ के शब्दों में " यह उस सतत गतिशील प्रबल जलधारा के सदृश बन गई है, जिसमें समय समय पर विविध कालखंड प्रतिबिंबित होते आए हैं "[१]

इसे और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो, " दक्षिण-उत्तर--मध्य की तीन विशिष्ट शैलियाँ हैं, जिनसे स्थानीय शाखायें फूटी हैं और प्रांतीय रूप बन गये हैं। उनमें निश्चय ही, निजी विकास है पर वे सभी अपने लक्षणों से प्रधान शैलियाँ स्पष्टत: प्रकट करते हैं और उन्हीं के बीच जब कभी शैलीगत भिन्न परंपरा की-जैसे उत्तर में द्रविड़ और दक्षिण में नागर मंदिर – आ जाती है, तब उनका अंतर प्रत्यक्ष झलक जाता है[२]।

भारतीय कला के उपर्युक्त विशेषता को सूत्ररूप में इस प्रकार रखा जा सकता है–

१. भारत जैसे विशाल देश के विविध प्रदेशों में स्थानीय वैशिष्ठ्य को लेकर वहाँ की कला एक स्वतंत्र व्यक्तित्व को लेकर विकसित हुई है।

---

[१] K. Bharatha Iyer, Indian Art, a short introduction page 8, deals of Indian Art-A general survey

[२] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग – हिन्दी साहित्य की पीठिका – चतुर्थ खंड, लेखक – डॉ. भगवत शरण उपाध्याय, पृष्ठ ५६७–५६८ देखियें।

२. भारतीय कलाओं की विविधता का दूसरा आधार कालगत परिस्थितियाँ भी रही हैं।

३. इन सब विविधताओं के होते हुए भी सभी का एक ही सांस्कृतिक आधार होने के कारण सभी विविधतायें एक ही परम्परा धारा की अंग मात्र ही कही जा सकती हैं।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में जिन कलाओं की ओर संकेत किया गया है, उनमें काव्य के उपकरण तथा उसका रूप ललित कलाओं के पाँचो स्वरूपों से भिन्न तथा सभीकी अपेक्षाकृत व्यापक भी है। अतएव इसे इन कलाओं की कोटि में रखा जाना भी एक दृष्टिसे उपयुक्त नही प्रतीत होता। इस के अतिरिक्त इसे ललित कला के अंतर्गत स्थान दिया जाय अथवा नहीं यह विषय भी विवादास्पद है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक में भारत की वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और नृत्य इन पाँच कलाओं का ही विवरण प्रस्तुत किया जावेगा।

◆

वास्तुकला

वास्तुकला के विषय में बरनेज नें कहा है कि, "वास्तुकला भवन निर्माण मात्र कर देना नहीं है। यदि इसकी कोई परिभाषा देनी ही हो तो यही कहा जायगा कि, यह लकड़ी, पत्थर अथवा अन्य पदार्थो कें द्वारा सुंदर और अलंकृत भवनों का निर्माण करना है और इस प्रकार इंजीनियरिंग से इसका स्पष्ट अंतर है"। यह परीभाषा केवल वास्तुकला के क्षेत्र में नहीं, प्रत्युत, शिल्प और चित्रकला के क्षेत्र में भी लागू होती है।

वास्तु और भवन निर्माण –

बरनेज की उपर्युक्त परिभाषा की विस्तृत व्याख्या करें तो, यह कहा जा सकता है कि, भवन निर्माण का लक्ष्य यदि केवल उसकी उपयोगिता ही तो हम केवल उसके उतने ही अंश पर ध्यान देंगे। एक इंजिनियर लकड़ी, पत्थर, लोहा तथा अन्य पदार्थों के सहारे भवन की सुदृढ़ता के विचार से, अभीप्सित भवन का निर्माण कर देता है। इस निर्माण में वह उसकी सुव्यवस्था तथा मजबूती का ही ध्यान रखते हुये, अधिकाधिक यह प्रयत्न करता है कि, मानव उसकी निर्मिति का अधिकाधिक और दीर्घ काल तक उपयोग कर सके। वह भवन कितना

आकर्षक तथा नयनाभिराम बनाया जा सकता है, इस ओर उसका ध्यान देना आवश्यक नहीं है। तात्पर्य यह है कि कोरे उपयोग के उद्देश्य से बनाई हुई वस्तु में अलंकरण की अपेक्षा नहीं होती। एक कुशल कलाकार उक्त निर्मिति में सुसंस्कृत मानव की सौंदर्यबोध की प्रवृत्ति का समुचित उपयोग कर उसके अलंकरण के द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करके उसे कलाकृति में परिवर्तित कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि इंजिनियर अथवा वास्तुकलाकार की निर्मितियों में कार्य का अंतर ही नहीं, प्रत्युत दोनों के उद्देश्य में भी अंतर है। इसे और अधिक स्पष्ट रूप में हृदयंगम करने के लिये उद्यान का उदाहरण लिया जा सकता है। मान लीजिये किसी माली नें एक बाग लगाया। बगीचें के वृक्षों कें सम्यक् विकास के लिये आवश्यक भूमि की तैयारी तथा खाद आदि की व्यवस्था की, और इतना ही नहीं अपितु प्रत्येक वृक्षतक उचित परिमाण में पानी पहुँचनें के लिये नालियों तथा जल की सुन्दर योजना बनाई। वृक्षों को हानि पहुँचाने वाली घास आदि को भी यथासमय काट कर अथवा निर्मूल कर उसने कीड़ों आदि से भी उन्हें रक्षित रखने का प्रयत्न करके प्रत्येक वनस्पति को यथावकाश फलने–फूलने की स्थिति में ला दिया। कहना न होगा कि उद्यान में लगाई हुई वृक्ष–राशि आवश्यक फलफूल देनेका साधन हो रहेगी, जिसके साथ ही उसकी नैसर्गिक शोभा का भी थोड़ा बहुत आनंद प्राप्त हो सकता है, परन्तु यदि वह कुशल माली जब प्रत्येक वृक्ष को यथावश्यक काटता–छाँटता, लताओं से आवेष्ठित करता तथा रंग बिरंगे फल फूलों की इस प्रकार योजना करता है कि उस उद्यान की शोभा नया रूप–रंग धारण करके पहले से कई गुना आकर्षक तथा नयनाभिराम बन जाती है। जहाँ उसकी उपयोगिता की बात है उसमें किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने पाती। उद्यान लगाने वाली उपर्युक्त दोनों स्थितियों में से पहली में वह केवल निर्माता भर रहता है, परन्तु दूसरी स्थिति में वह निर्माता के साथ साथ कला के क्षेत्र में

भी पहुँच जाता है। उद्यान का यह उदाहरण वास्तुकला के क्षेत्र में नितांत उपयुक्त ठहरता है।

वास्तुकला का उद्भव–

पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह संकेत किया जा चुका है कि, प्राणिमात्र की आत्मरक्षण की भावना तथा सुविधापूर्वक जीवन बिताना आदि नैसर्गिक प्रवृत्तियों ने मानव में सर्वप्रथम भवन निर्माण की प्रेरणा दी थी। अतएव पहले उसने उपयोगिता का दृष्टिकोण अपनाकर काम चलाऊ निवास स्थान बनायें होंगे। शनैः शनैः मानव की सभ्यता का विकास हुआ और उसके साथ ही आवास–स्थानों के निर्माण की विधि और स्वरुप भी विकसित हुये। यह विकासक्रम उसे सुदृढ़ भवनों के निर्माण की ओर ले गया होगा इसमें संदेह नहीं। कहना न होगा कि यह वह समय रहा होगा जब कि आदि मानव ने कालांतर में नदियों के काठों के निकटस्थ वृक्षों पर बाँस आदि के मकानों के आवास छोड़ कर ग्राम और नगर बसाना प्रारंभ किया था। यह तथ्य विश्व के समस्त भूभागों के इतिहास में लागू होता है। परंतु आवास–स्थानों को केवल सुदृढ़ भवन निर्माण की स्थिति तक पहुंचा देने से वास्तुकला के वास्तविक रूपका विकास नहीं कहा जा सकता। वास्तव में वास्तुकला का निर्माण तब हुआ होगा जब कि मानव ने इन आवासों को सुन्दर और आकर्षक बनाने की ओर ध्यान दिया होगा। कहना न होगा कि उसकी सौंदर्यबोध की प्रवृत्ति ने उसमें इस प्रवृत्ति का स्फुरण अति प्राचीन काल में ही किया होगा। अतएव सभ्यता के आद्य–युग में उपर्युक्त भवन निर्माण के विकास क्रम से वास्तुकला की पृष्ठभूमि के रूप में माना जा सकता है। कालांतर में भवन की उपयोगिता के साथ साथ उसमें सौंदर्य और आकर्षण होने की आवश्यकता का अनुभव करके मनुष्य ने उस में भव्यता एकरूपता तथा स्थायित्व का संमिश्रण किया होगा जिससे उसके सुख में बाधा न पड़े, और साथ ही उसके अंतर्वृतियों को आह्लाद भी मिल सके। इस प्रकार

हम देखते हैं कि वास्तुकला के अंतर्गत क्रमशः मानव के हृदय और बुद्धि दोनोंका सुंदर सामंजस्य होता आया है।

साधारतया निर्माता जब किसी भवन निर्माण का उपक्रम करता है, तो वह अपने साधनों—जिनमें उपलब्ध भूमि तथा भवन निर्माण के सभी उपकरण समिलित हैं के साथ साथ यह भी देखने की चेष्टा करता है कि उसके पूर्व के वास्तु निर्माता ने किस प्रकार निर्माण किया था। इसके उपरान्त वह अपने साधनों के अनुरूप एक निश्चित योजना बनाता तथा अलंकरण की कल्पनायें करता है, और इन्हीं के आधार पर अपनी उक्त कल्पना को मूर्त रूप दे देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालांतर में निर्माता की कल्पनाओं का विकास होता जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी कला नया रूप धारण करती जाती है। इन कल्पनाओं के उद्भव और विकास में प्रादेशिक विशेषताएँ भी बहुत कुछ उत्तरदायी हुआ करती हैं। ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण जब ये प्रादेशिक विशेषतायें एक दूसरे के निकट आती हैं तो सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया भी इन कलाओं के नवीन रूपोंकी प्रतिष्ठा में सहायक हो जाती है।

आदियुग –

भारतीयों की सर्वप्राचीन वास्तुकला के अध्ययन के दो आधार हैं– प्रथम वैदिक साहित्य के निर्देश और दूसरे हड़प्पा और मोहन-जो-दारो के प्राचीन अवशेष। आर्योंका प्राचीन एवं प्रधानतम साहित्य चतुर्वेद हैं, जिनमें से ऋग्वेद सर्वप्राचीन है। ऋग्वेदमें भवन निर्माण का अत्यंत उन्नत आदर्शों का जहाँ वर्णन आया है, वहाँ सहस्त्र स्तूपों के भवन का उल्लेख है, वहाँ स्पष्ट लिखा है कि "प्रजा का द्रोही न होकर राजा तथा मंत्री इस दृढ़ उत्तम तथा सहस्त्र स्तंभोंवाले मकान में रहें"[1] भवन में सहस्त्र स्तम्भों का निर्माण न केवल भवन की दृढ़ता का

[1] ऋग्वेद २। ४१। ५

परिचायक है प्रत्युत अलंकरण की ओर भी संकेत करता है, क्योंकि दृढ़ शब्द का उल्लेख तो वह उसके पूर्व ही कर देता है। एक स्थान पर एक सहस्त्र द्वारवाले महल का भी निर्देश है, जिसके साथ ही सौ फलकों से निर्मित मकान का भी उल्लेख है। वैदिक साहित्य में वास्तु निर्माता के लिये, "विश्वकर्मन्" शब्द् का प्रयोग किया गया है, जिससे यह सरलतासे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस युग में वास्तुकला चाहे अपनी शैशवावस्था में भले ही रही हो, परंतु उसका महत्व अवश्य प्रतिष्ठित हो चुका था।

ऋग्वेदिक सभ्यता की भाँति सिन्धु नदी की घाटी की सभ्यता भी भारत की अति प्राचीन सभ्यता समझी जाती है। अभी तक यह निश्चय नही हो पाया है कि दोनो में अति प्राचीन कौन होगी? इतिहासकारों ने इसे प्रागैतिहासिक कालीन माना है, जिनके ध्वंसावशेष हड़प्पा और मोहेन–जो–दारो की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। ये दोनों नगर चार हजार ईस्वी पूर्व के माने जाते है और अब तक ज्ञात प्राचीनतम भारतीय सभ्यता के प्रतीक हैं। फिर भी नगर निर्माण आदि को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भी भारतीय वास्तु तथा शिल्प कलाओं ने बड़ी प्रगति कर ली थी, और उनके अंतर्गत वैज्ञानिक ढंग से नगरों का निर्माण किया गया था। इन नगरों में प्राप्त पक्की सड़कें, मकानों की व्यवस्था आदि से तत्कालीन नागरिक जीवन का परिचय प्राप्त होता है। यहाँ की नगर – निर्माण संबंधी अनेक बातें प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन होकर इंजिनियरिंग से संबंध रखती है। अतएव यहाँ केवल उतना ही विवरण उपस्थित किया जायगा जितना कि वास्तुकला से संबंधित है।

मोहेन–जो–दारो में दो विशाल कक्षों के अतिरिक्त एक विशाल एवं सर्वांगपूर्ण स्नानगृह आदि अनेक वस्तुयें भी प्राप्त हुई है। विशाल कक्षों में

सभागृह के ऊपर जाने की सीढ़ियों आदि की रचना कुशल इंजीनियरिंग के परिचायक होते हुये भी कला का भी तत्कालीन रूप प्रस्तुत करतीं है। द्वितीय कक्ष जो बत्तीस फीट लंबा और उतना ही चौड़ा वर्गाकार बना है, के विषय में डॉ **राधाकुमुद मुकर्जी** का अनुमान है कि पहले वह मदिर अथवा पूजागृह रहा होगा। इसी प्रकार शीतल, गर्म आदि आवश्यकतानुसार सभी प्रकार के तापमान तथा जल की व्यवस्था से पूर्ण वहाँ का स्नानगृह भी है, जो कि ईटों से बना है। आजतक सुरक्षित रहने वाली उसकी दृढता जिस प्रकार तत्कालीन भवन निर्माण की वैज्ञानिक उत्कृष्टता की द्योतिका है उसी प्रकार विविध अंगों की व्यवस्था तथा दीवाल, फर्श, सीढ़ियों आदि में तत्कालीन वास्तु कला के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं।

प्राचीन नगरों के साहित्यिक उल्लेख –

संस्कृत साहित्य के अंतर्गत हमें प्राचीन नगरों तथा उनके भवनों का वर्णन मिलता है, उनका निर्माण सैंधव सभ्यता के पश्चात् हुआ था। काव्य पुस्तकों में जिन नगरों के वर्णन आए हैं, उनमें से अयोध्या, हस्तिनापुर, धार, अन्हिलवाड़ा, पाटलिपुत्र, श्रावस्ती आदि प्रमुख हैं। इनके तत्कालीन स्वरूप संबंधी हमारे ज्ञान का आधार वे काव्य-पुस्तकें मात्र हैं, उनके प्राचीन चिन्ह आज प्राप्त नहीं है। कनिंघम द्वारा श्रावस्ती[1] की जो खुदाई हुई है, उसमें बौद्धकालीन कला के अवशेष प्राप्त होते हैं। जब यह बौद्ध धर्म के उद्भव के पूर्व कोशल की राजधानी

[1] बौद्ध साहित्य में श्रावस्ती का वर्णन 'सवत्थी' या 'सावत्थी' नाम से आया है जो संस्कृत शब्द 'श्रावस्ती' का रूपान्तर है। कहा जाता है कि कोशल सम्राट श्रावस्तक द्वारा बसाई जाने के कारण इस नगरी का नाम श्रावस्ती पड़ा था।

तथा व्यापारी मार्गपर स्थित सुप्रसिद्ध जनपद था, उस समय के चिन्ह आज वहाँ बिलकुल ही नहीं मिलते। वाल्मीकि रामायण के वर्णन से ज्ञात होता है कि अयोध्या का विशाल नगर बारह योजन लंबा और तीन योजन चौड़ा था जिसमें सीधी लंबी और पर्याप्त चौड़ी सड़के थी। नगर अष्टकोनाकार बना हुआ था। लंका के वर्णन में भी इस प्रकार ऐश्वर्य और कला के निर्देश मिलते हैं। इन प्रसंगो में भवनों का विस्तृत वर्णन होते हुये भी वास्तुकला संबंधी विशेष विवरण नहीं मिलते; परंतु मकानों के सामने चबूतरों की योजना, तोरणयुक्त द्वार तथा भवनों का पद्म, स्वस्तिक और वर्धमान आदि के आकारों का निर्मित होना इत्यादि वर्णन निश्चित रूप से तत्कालीन वास्तुकला के विकास के द्योतक हैं। महाभारत में वास्तुकला के वैचित्र्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक प्रसंग पर ऐसा वर्णन आया है कि मय नामक दानव ने महाराज युधिष्ठिर के महल को ऐसे कलापूर्ण ढंगसे बनाया था, जिसे देखकर अपरिचित व्यक्ति को यह ज्ञात करना कठिन ही नहीं, असंभव भी था, कि कहाँ जल है और कहाँ बैठने योग्य समुचित स्थान।, प्रसिद्ध है कि दुर्योधन इसी भ्रम के कारण जलस्थान को स्थल समझकर डूबते डूबते बचा तथा उपहास का पात्र बना था। ऐसे भवनों का क्या स्वरूप रहा होगा इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु इस प्रकार के साहित्यिक निर्देश वास्तुकला की उन्नत अवस्था का द्योतन करते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व तथा पश्चात

उत्कृष्ट वास्तुकला के अत्यंत प्राचीन उदाहरण हमें प्राचीन नगर राजगृह के किले तथा अनेक भवनों में मिलता है, जिनकी दिवालों के अवशेष इस बात के द्योतक हैं कि उनके निर्माण में जिन पदार्थों का प्रयोग किया गया था वे कितने सुदृढ़ तथा टिकाऊ थे। कहना न होगा

कि राजगृह के ध्वंसावशेष वहाँ के प्रथम सम्राट बिम्बसार (ई. पू. ६०३ से ई. पू. ५५१ तक) सें संबंध रखते हैं, जिसने अपनी राजधानी गिरिब्रज से बदल कर नई राजधानी के रूप में राजगृह की प्रतिष्ठा की थी। प्राचीन उल्लेखों द्वारा विदित होता है कि छठी शताब्दी ई. पू. के इस नगर की योजना तथा तदनुसार संपूर्ण वास्तु निर्माण का कार्य सुप्रसिद्ध निर्माता महागोविन्द द्वारा संपन्न हुआ था। आजकल इस नगर के कुछ मकानों तथा दीवालों के अवशेष मात्र मिलते हैं। आगे चलकर बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने राजगृह की पहाड़ियों में स्थित सतपण्णि गुफा के द्वार तथा भवन का निर्माण किया था। इसी स्थान पर बौद्धों की दूसरी बड़ी सभा (धम्म संगति) का आयोजन किया गया था। संभवतः पश्चात्कालीन भवन के निर्माण का उद्देश्य भी यही रहा होगा।

इस युग से लेकर आज तक प्राप्त लिखी गयी स्मृतियों में नगर निर्माण तथा उनकी योजनाओं के निर्देश मिलते हैं। मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में वास्तु निर्माण कला का नाम व वास्तु–सम्प्रदान (३/२५५) तथा भवन निर्माता (Architect or building engineer) का नाम गृहसेवक[१] के अतिरिक्त नगरों और ग्रामों मंदिरों और सार्वजनिक संस्थाओं के भवनों के निर्माण के भी निर्देश प्राप्त होते हैं। मंदिर प्रायः बस्ती के बाहर होते थे और ग्रामों की सीमा का भी काम करते थे[२]। शुक्र नीतिसार में राज-प्रासाद निर्माण के कतिपय संकेत मिलते हैं उसके अनुसार राजमहल अष्टकोण अथवा पद्म सदृश होते थे। राजमहल संबंधी विवरण में भोजनगृह, स्नानागार, रसोई, जल-व्यवस्था, स्वागत-कक्ष, शयन-कक्ष, रक्षक-निवास आदि के विवरण वास्तुकला के स्थान पर भवन–निर्माण की कुशल

---

[१] मनुस्मृति ३, १६३।
[२] ,, ७, २४८।

व्यवस्था के निर्देशक हैं। परंतु सभा-भवन का जो वर्णन किया गया हैं, वह सुंदर और चारोंओर से दर्शनीय होता था। प्राचीन राज महलों के जो विवरण प्राप्त होते हैं, उनमें से पाटलिपुत्र नगर के मध्य में स्थित मौर्य-सम्राट चंद्रगुप्त के राजमहल का पता चलता है। इसके सुनहले स्तंभो पर स्वर्ण के अंगूर की बेलें और चांदी के निर्मित पक्षी अलंकृत थे। ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज ने लिखा है कि वह एशिया के सूसा तथा इकबातना आदि के जगत्प्रसिद्ध राजभवनों से भी भव्य एवं उत्तम था। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मौर्य कालीन वास्तुकला उन्नत अवस्था में थी। सम्राट चंद्रगुप्त के पश्चात्कालीन शासक अशोक ने राजप्रासाद बनवाए थे, जिनका कि उल्लेख चीनी यात्री फाह्यान ने अपने यात्रा विवरण में किया है। चीनी यात्री के विवरण द्वारा प्रकट होता है कि इन राजभवनों का अस्तित्व ई. सन् की सातवीं आठवीं शताब्दी तक रहा होगा। उसके उल्लेखों द्वारा ज्ञात होता है कि वह इतने भारी पत्थरों द्वारा निर्मित होने के साथ साथ ऐसे सुंदर बेलबूटों से अलंकृत था कि उसे आश्चर्य चकित रह जाना पड़ा। चीनी यात्री ने इसे मानव कृति न मानकर मायावी राक्षसों की कृति सभवत: इसी आश्चर्य के कारण माना है। सातवीं शताब्दी में जब हुवेनसांग यहाँ आया उस समय तक ये राजमहल ध्वस्त हो गए होंगे, क्योंकि उसने उसके संबंध में कुछ भी नहीं लिखा। अभी कुछ वर्ष पूर्व हुई खुदाई में इस महल के सभाभवन वाले अवशेष मिले हैं।

बौद्ध तथा जैन वास्तु :-

प्राचीन वास्तु निर्माण का दूसरा प्रकार बौद्ध स्तूपों तथा चैत्यों का है। इसमें सदेह नहीं, भारतीय कला के उत्कर्ष में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार एवं प्रसार का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कुछ लोग भारतीय कला का प्रादुर्भाव तक इसी से मान बैठते हैं, परन्तु जैसा कि

पूर्ववर्ती पृष्ठों के विवरण द्वारा स्पष्ट है कि भारतीय कला का इतिहास उससे अधिक प्राचीन है। गौतम बुद्ध के समय से ही भिक्षु तथा स्त्रियों के संघो का संगठन उनके रहने की उचित व्यवस्था के साथ साथ होने लगा था। बौद्धों और जैनों के विहार या मठ साधुओं के मिलने के स्थान थे, जो कालान्तर में मंदिरों तथा धार्मिक संपत्ति के रूप में परिवर्तित हो गयें। इसके अतिरिक्त बौद्ध स्रोतों से हमें पता चलता है कि गौतम बुद्ध के मरनें के पश्चात उनके शव के लियें कई प्रतिद्वंद्वी खड़े हो गये, जिसके परिणाम स्वरूप कुशीनगर युद्ध का अखाड़ा बनने वाला था, उसी समय 'द्रोण' नामक एक ब्राह्मण ने मध्यस्थ होकर यह निर्णय दिया कि शव को जलाने के पश्चात उनके अवशेषों को आठ भागों में बांट दिया जाय, और उन पर दावा करने वाले सभी एक एक स्तुप बनवायें। इसे सभी ने स्वीकार कर लिया, और उस समय से बौद्ध-स्तूपो के निर्माण का कार्य आरंभ हुआ। इन स्तूपों के पश्चात प्रदक्षिणा पथ बनें, तत्पश्चात स्तूपों की सजावट तोरणों वेदिकाओं तथा उन पर अंकित चित्रों से कीं जाने लगी। इसका सुंदर उदाहरण हमें भारहुत और साँची के स्तूपों में मिलता है।

डॉ. बेनीप्रसाद के मतानुसार, "गौतम बुद्ध के समय के जो अवशेष बनारस के पास मिलते हैं, यह सूचित करते है कि स्मारक, स्तंभ, धर्म-भवन, रहनें के मकान, साधारण प्रयोग के बर्तन इत्यादि अच्छे बनाए जाते थे"। मौर्य सम्राट् अशोक का स्थान बौद्ध वास्तु निर्माण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों के अवशेष आज भी प्राप्त होते हैं। ये स्तूप एक हाथ से लेकर चालीस गज तक ऊँचे थे। शुंग कालमें इनपर मूर्तियां भी निर्मित होने लगीं। बुद्ध जी के बाद से लेकर वैष्णव धर्म के अभ्युदय तक बौद्ध वास्तुकला के जो सुंदर उदाहरण मिलते हैं, उनमें साँचीं, भरहुत तथा अमरावती के स्तूप, अजंता, एलोरा गया तथा औरंगाबाद की गुफायें एवं चैत्य-गृह

और अनेक स्थानों में प्राप्त स्तंभ प्रमुख ह, जिनपर संक्षेप में विचार करना यहाँ उचित होगा।

साँची के स्तूप – समूह में दो छोटे और एक बडा स्तूप है। बड़े स्तूप से नीचे का व्यास एक सौ बीस फीट और ऊँचाई चौवन फीट है। उसके उपर छत् का दण्ड है जो भारतीय राजस्व का द्योतक और उस धर्मका प्रतीक है जिसे धर्मप्रिय अशोक ने प्रचारित किया था। इस में तोरण बने हुए हैं। उनके विषय में विद्वानों का मत है[1] कि संभवत: ये पहले काष्ठ के थे, और उनके प्रस्तर द्वारा निर्माण के तीन शताब्दियों पश्चात बनाये गये थे। दक्षिण के तोरश का एक भाग आन्ध्र वंशीय राजा शतकर्णी ने तथा दूसरा भाग विदिशा के हस्तिदन्तकारों ने बनवाया था[2]। दस तोरण चौदह–चौदह फीट ऊँचे चौपहल खंभे हैं, जिनपर कमानीदार नेहरी बड़ेरियाँ बनी हुई हैं। इन बड़ेरियो के ऊपर हाथी, धर्मचक्र, यक्ष और त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) आदि बने हैं। तोरणों पर बुद्धजी का जीवन सजीवता के साथ उत्कीर्ण हुआ है। साँची स्तूप में आवागमन के लिये चारों दिशाओं पर चार मार्ग तथा आसपास परिक्रमा का स्थान भी बना हुआ है द्वारों के भीतर और बाहर दोनो ओर बुद्धजी के जीवन की घटनाओं के साथ ही साथ बौद्ध साहित्य के अन्य दृश्य पत्थर की ऐसी नक्काशी द्वारा अंकित हुये हैं, जिसके कारण उन्हें तत्कालीन वास्तुकला का उत्कृष्टतम प्रतिक कहा जा सकता है, साँची भरहुत तथा अमरावती के स्तूपों के दरवाजे एवं उनके चारों ओर की रेलों पर इसी प्रकार के अगणित चित्र अंकित अंकित किये गये हैं। भरहुत का स्तूप, जिसके कि ध्वंसावशेष सन् १८७३ ई की खुदाई में प्राप्त हुये थे, के तले का व्यास ६८ फीट था।

---

[1] परमेश्वरीलाल गुप्त – भारतीय वास्तु कला पृष्ठ ४३.

[2] वही पृष्ठ ४३।

जान पड़ता है कि इसके चारों ओर की बाड़ को अद्‌भुत मूर्ति शिल्प द्वारा अलंकृत किया गया था। बाड़ के अतिरिक्त तोरण भी उक्त खुदाई में प्राप्त हुये हैं। यह समस्त सामग्री कलकत्ता संग्रहालय में है। अशोक के पश्चात कालीन बौद्ध सम्राट कनिष्क के लगभग पचास–साठ स्तूपों के अवशेषों का पता लगता है। संभव है कि उसने इससे अधिक संख्या में स्तूप बनवाये होंगे। इनमें से दक्षिण पूर्व बीस मील की दूरी पर स्थित मणिम्पाला नामक स्थान में सोलह स्तूपों का महत्वपूर्ण समूह प्राप्त हुआ है[1]। इसके अतिरिक्त इसी के निकट एक वर्तुलाकार स्तूप का पता चला है, जो संभवतः द्वितीय या तृतीय शताब्दी का है। इसी प्रकार सैदपुर और मीरपुर में जो स्तूप मिले हैं वे गुप्तकालीन माने जाते हैं। कनिष्क कालीन स्तूप पेशावर में था जो अब ध्वस्त हो चुका है। चीनी यात्रियों के वृत्तांत से ज्ञात होता है कि इस चार सौ फीट ऊँचे स्तूप का आधार १६० फीट ऊँचा और सीढ़ियोंपर निर्मित था। इसके ऊपर बाईस फीट ऊँचा एक दण्ड था जिसपर तांबे के अनेक छत्र लगे थे। अमरावती का स्तूप भी अत्यंत प्राचीन माना जाता है। इसके शिलाफलक संगमरमर से बनाए गए थे।

प्राचीन भारत में भिक्षुकों तथा संन्यासियों के निवास तथा मंदिरों के निर्माण के लिए बड़ी बड़ी पहाड़ी चट्टानों को काटकर मूर्तियाँ तथा चित्र बनाने की प्रथा थी। कालांतर में राजधर्म की प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले बौद्ध धर्म के प्रचार ने इस कला को अत्यधिक उन्नत बनाया। अशोक ने गया से सोलह मील उत्तर की ओर स्थित पहाड़ियों में सुदामा नामक गुफा आजीवक संन्यासियों के लिये बनवाई थी। इसके दो कमरों में से एक चौकोर और दूसरा गोलाकार है। अशोक द्वारा निर्मित दूसरी गुफा में तेंतीस फीट छह इंच लंबा और चौदह फीट चौड़ा एक ही कमरा

---

[1] भारतीय वास्तुकला पृष्ठ ४५।

है। छ फीट एक इंच ऊँची दीवारों पर चार फ़ीट नौ इंच ऊँची महराबदार छत है। अशोक के पुत्र दशरथ ने भी इसी प्रकार की गुफायें बनवाई थीं। मौर्यकाल के पश्चात वास्तु-निर्माण के साथ साथ गुफाओं में मूर्तियाँ खोदने तथा चित्र अंकित करनें का भी कार्य पर्याप्त मात्रा में होने लगा। पूना और बम्बई के बीच स्थित कार्ली की विशाल गुफा में तीस स्तम्भ बनाये गये थे। इसके पिछले भाग में नक्काशी का काम बहुत सुंदर हुआ है। अजंता की गुफायें गुप्त काल की हैं जिन्हें सर्वांगीण कला के विकास की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट कहा जा सकता है। पहाड़ियो की चट्टानें काट काट कर ये इस ढंग से बनाई जाती थीं कि आजतक सुरक्षित रूप में प्राप्त होकर भारतीय कला का गौरव बढ़ा रही हैं आश्चर्य की बात तो यह है कि इनमें बाहर की कोई भी वस्तु का प्रयोग नही किया गया है। "सबसे पहले इन गुफाओं के ऊपर की पहाड़ी भूमि साफ़ कर दी जाती थी तथा पानी बहने की नालियाँ इस तरह बनाई जाती थीं कि गुफाओं के अंदर एक बूंद भी पानी न टपक सके, और गुफा का मुँह ऐसा रखा जाता था कि कुछ प्रकाश अंदर भी आता रहे।"[१] गुफाओं के निर्माण का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण संसार के अन्य किसी देश में नहीं मिलता। कारीगर चट्टान को ऐसा काटते गये हैं कि उनमें कमरे दरवाजे, खंभे और मूर्तियाँ निकलती चली आई हैं। औरंगाबाद की गुफा में भी अजंता की ही भाँति वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एलोरा की गुफायें अजंता के पश्चात् लगभग सातसौ ईस्वी के आसपास की है। वास्तु निर्माण की दृष्टि में ये अजंता जैसी ही हैं। इस के अतिरिक्त इनमें पौराणिक मूर्तियाँ भी बहुत संख्या में मिलती हैं जिनका विवेचन मूर्तिकला पर विचार करते समय किया जायेगा।

---

[१] डॉ. बेनीप्रसाद कृत हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता पृष्ठ ३३७ ।

इन गुफाओं के अतिरिक्त स्तंभों का निर्माण भी भारतीय वास्तुकला के विकास में अत्यधिक महत्व रखता है। अशोक के स्तंभ तथा उनपर अंकित शिलालेख इस दृष्टि से सर्वोत्तम उदाहरण हैं, जिनके उठाने और खड़ा करने के साथ साथ उनके निर्माण के कार्य में कलाकृति के साथ निर्माण-कौशल भी सराहनीय है। चिकने रेखिले पत्थर का लौरीया नंदन गढ़-स्तंभ बत्तीस फीट साढ़ें नौ इंच ऊँचा है, जिसके नीचे की गोलाई साढ़ेंतीस इंच तथा ऊपर की साड़ेबाईस इंच है [१]। निर्मिति के इस अनुपात से स्तंभ अत्यंत सुंदर हो गया है। सारनाथ का स्तंभ जिसका कि पता सर्वप्रथम सन् १९०५ इस्वी में लगा था उस महत्वपूर्ण स्थान का स्मारक है, जहाँ बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश देकर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। सारनाथ स्तंभ के सिरे वाले भागपर एक दूसरे की ओर पीठ किये हुये चार शेर खड़े हैं और उनके बीच के पत्थर में धर्मचक्र है। शेरों के साथ ही इस स्तंभ में हाथी, बैल तथा घोड़ों की मूर्तियाँ हैं जिनमें शिल्प कौशल उच्च कोटि का है। इन स्तंभों में आज से लगभग बारह तेरह सौ वर्ष पूर्व की गई चमकीली पालिश आज भी उसी रूप में वर्तमान है, जो तत्कालीन वास्तु कौशल का सर्वोत्तम उदाहरण है। ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी में आनेवाले चीनी यात्री फाहियान ने बड़े आश्चर्य से लिखा है कि वे दर्पण को भाँति चमकते हैं।

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार के परिणाम स्वरूप चैत्यों और विहारों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी। शुंग वंश के शासन काल में बौद्ध धर्म-प्रचारकों के निवास के लिये इनका बहुत बड़ी संख्या में निर्माण प्रारंभ हुआ और लगभग दसवीं शताब्दी तक चलता रहा है। इस काल के बीच कलात्मक रीति से खोदी गई लगभग बारह सौ गुफाओं में से

---

[१] वही पृष्ठ २३० ।

अधिकांशतः बौद्ध-चैत्य तथा शेष हिन्दू और जैन गुफायें हैं। इसके सर्वोत्तम उदाहरण कार्ला चैत्य के आकर्षक द्वार, सुंदर आकार की खिड़कियाँ, सुदृढ़ बराम्दे, अनेक मूर्तियाँ तथा स्तम्भ एवं कलापूर्ण छत से युक्त अलंकृत विशाल कमरा तत्कालीन भारतीय वास्तुकला की उत्कृष्टता का द्योतक है। इसके स्तम्भ परस्पर जुड़े हुये हैं, जिन पर की गई पालिश अशोक के स्तंभों की भाँति आज भी वैसी ही चमक रही है। पहाड़ो पर खोदी गई गुफाओं के अतिरिक्त ईंट, पत्थर से बने हुए छः छः. आठ आठ खंडों के अनेक बौद्ध विहारोंका पता अनेक चीनी यात्रियों के विवरण द्वारा प्राप्त होता है। कालान्तर में ये विहार ध्वस्त हो गये। केवल पहाड़ों की चट्टानों में खोदकर बनाए हुए ही प्राचीन स्मारक अपनी दृढ़ता के कारण शेष बचे हैं। कहना न होगा कि महायान संप्रदाय के रूप में बौद्ध धर्म के आगामी विकास ने चैत्यों और विहारों को मठों का रूप दे दिया। ये मठ भिक्षुकों के निवास-स्थान होनें के साथ साथ विद्यालयों का भी कार्य करते थे। प्राचीन भारत में राज्य की सहायता से बड़े बड़े विद्यापीठ चलतें थे, जिनकी व्यवस्था के लिये आर्थिक साधन के रूप में सैकड़ों गाँव लगा दिये जाते थे, जिनसे प्राप्त, कर, उनकी आर्थिक पूर्ति के काम आता था। बड़े बड़े बौद्ध मठ भिक्षुकों के लिये निर्मित अनेक घरोंके समूह होते थे, इस कारण उन्हे 'संघाराम' कहा जाता था। ऐसे संघारामों में सामान्य विद्यापीठों से लेकर बड़े बड़े विश्वविद्यालय भी बने हुए थे। हर्षवर्धन कालीन नालंदा-संघाराम उस समय का विद्या के अतिरिक्त बौद्ध धर्मका भी केंद्र था। इसकी गगन चुंबी बुर्जें पहाड़ियों जैसी प्रतीत होती थीं। ह्वेनसांग के यात्रा विवरणानुसार इस में १५१० प्राध्यापक और १०,००० विद्यार्थी थे, जिनके निवास, भोजन, औषधि उपचार आदि का पूरा प्रबंध था। इस विशाल विहार का वर्णन करते हुये चीनी यात्री लिखता है कि, भिक्षुको का प्रत्येक आवास (विहार) चार मंजिला था। संघ के हॉल में स्तंभोपर निर्मित देव-मूर्तियां तथा उसके छबियों में सात रंग विद्यमान थे। भीतर के

ये विविध रंग परस्पर मिलकर अन्य अनेक रंगों को उत्पन्न करते तथा विहार के सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देते थे। इसकी खुदाई में जो भवन निकले हैं वे छत विहीन हैं। "मामल्लपुरम्" का चौमंजिला विहार जो कि सातवीं शती का है, चट्टानमें निर्मित होने के कारण आज भी खड़ा है।

जैनवास्तु :–

जैनों ने भी बौद्धों की भाँति ईस्वी पूर्व की द्वितीय शताब्दी से भिक्षु-गृहों का निर्माण करना आरंभ किया था। इनके सर्वोत्तम उदाहरण – उड़ीसा में उदयगिरि गुफा, इलोरा में इंद्रसभा, घुसुण्डी, पुलीतना में शत्रंजय पहाड़ी, आबू पर विमल और तेजपाल का मंदिर, गिरनार में नेमिनाथ का मंदिर, पार्श्वनाथ की पहाड़ो के अवशेष, रणपुर (जोधपुर), खजुराहो (मध्यभारत) घंटापथ और आदिनाथ मंदिर, चित्तौर में राणा कुंभा का विजयस्तम्भ, श्रावस्ती के प्राचीन जैन–अवशेष तथा महोली गाँव के निकट के स्तूप अवशेष आदि हैं। उत्तर तथा मध्यभारत के इन मंदिरों के अतिरिक्त दक्षिण भारत में भी अनेक जैन मंदिर मिलते हैं, जिनमें से श्रवणबेल गोला में मूलबद्रि मंदिर तथा गुरुवयंकरी मार्ग में उपासकों का स्तूप आदि प्राचीन जैन वास्तु की उत्कृष्टता के परिचायक हैं। मथुरा संग्रहालय में महोली के निकट प्राप्त जैन स्तूप का जो अवशेष रखा हुआ है, उसे लोनसोमिका नामक गणिका ने महावीर स्वामी की पूजा के लिये बनवाया था[1]। यह स्तूप बौद्ध स्तूपों से बिलकुल मिलता जुलता है। इसी प्रकार उडीसा के पुरी जिले में खण्डगिरि, उदयगिरि तथा नीलगिरी पहाड़ियों पर समय समय पर खोदी गई अनेक जैन गुफायें मिलती हैं। कहना न होगा कि इनके निर्माण का कौशल बौद्धों से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

---

[1] डॉ. बेनीप्रसाद कृत हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २८०।

उपर्युक्त जैन मंदिरों के अतिरिक्त आबू पर्वत पर स्थित देलवाड़ा के जैन मंदिरों का परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक होगा। इस समूह में केवल चार मंदिर हैं, जिनमें से पूर्णतया संगमरमर के बने हुये विमलशाह (निर्माणकाल–सन् १०३२ ई.) तथा पालबंधु (निर्माणकाल १२३२ ई.) द्वारा निर्मित दो मंदिर प्रमुख हैं। पहले में छह स्तंभों पर स्थित एक वर्गाकार मण्डप है जिसपर दस विशाल हाथियों के चित्र खुदे हुये हैं, जिनके साथ ही तीन सीढ़ियों का समशोषण तथा तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति भी है। मंदिर का ऊपरी भाग शिखरयुक्त शुण्डाकार है। गर्भगृह के सामने वर्तुलाकार आठ स्तंभों का सभामण्डप है। बाहर के बराम्दे में बडें दर्शनीय स्तंभ तथा भीतर अनेक छोटे छोटे स्तंभ हैं[1]। दूसरे मंदिर में भी पहले के समान ही स्तंभयुक्त बराम्दे, प्रदक्षिणागृह, अलंकृत मण्डप, गर्भगृह तथा शिखरयुक्त कोणाकार छत है जिसके अतिरिक्त पिछले बराम्दे और आँगन के बीच जालीदार पर्दा भी है[2]। इसकी विशेषतायें संक्षेप में, स्थान स्थान पर नक्काशी तथा स्तंभ पहले की अपेक्षा अधिक ऊंचे तथा छतें नीची और वर्तुलाकार हैं। मंदिर के संगमरमर पर मूर्तियाँ ऐसे कलापूर्ण ढंग से खोदी गई हैं, जिनकी सजीवता में संदेह नहीं रह जाता। मध्यकालीन जैन मंदिरों में जोधपुर महाराज द्वारा निर्मित रणपुर, बंगाल के पारसनाथ, विदर्भ के मुक्तागिरि, तथा सोनगढ़ के मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आधुनिक कालीन (१९ वीं शताब्दी) जैन मंदिरों के भव्यतम उदाहरण श्रावस्ती की जैन धर्मशाला तथा मंदिर, अहमदाबाद के हाथीसिंह एवं धर्मनाथ के मंदिरों आदि में मिलते हैं जो भारतीय वास्तुकला के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण एवं दर्शनीय हैं।

---

[1] परमेश्वरीलाल गुप्त : भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ १०७।

[2] वहीं, पृष्ठ १०८।

जैन मंदिरों की सबसे बड़ी बिशेषता यह है कि ये अधिकांशतः उनके तीर्थांकरों से संबंधित हैं। इनके आँगन के चारों ओर स्तंभयुक्त छोटे छोटे मंदिरों का समूह और मध्य में मुख्य मंदिर की प्रतिष्ठा की जाती है। इनकी तीसरी विशेषता चौमुखी बिकास की है, जिससे इन्हें चारों ओर से देखा जा सके। इसके साथ ही भक्तों के बैठने के लिये पर्याप्त स्थान की योजना की जाती है, जिसें 'समशोषण' कहते हैं। यह उल्लेखनीय है कि अनेक जैन मंदिर मुसलमान आक्रांताओं द्वारा ध्वस्त करके मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये थे, जिनमें आज भी उनके पूर्व रूपों को देखा जा सकता है। अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा, दिल्ली के निकट का कुतुब, कन्नौज तथा अजमेर आदि स्थानों की अन्य अनेक मस्जिदें इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। जैन मंदिरों के संबंध में यहाँ यह भी दृष्टिगत कर लेना आवश्यक होगा कि जैनियों की प्रवृत्ति प्राचीन मंदिरों के संरक्षण की अधिक रही है, जिसके साथ ही इस तथ्य के लिये उनकी एक विशेष परिस्थिति भी सहायक हुई है। भारत में जैन धर्म का स्वत्व बौद्धधर्म की भाँति एकदम से उठ नहीं गया। अतएव उनके मंदिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार सदैव सोत्साह होता आया है। इन दोनों ही परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप उन्होनें प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार करके उन्हें नवीन रूप दिया है, परन्तु ऐसा करते समय यह ध्यान रखा गया है कि उनका मूल रूप सुरक्षित रहे। यह अवश्य है कि उन्हें समय समय पर अधिकाधिक अलंकृत करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

बोद्ध तथा जैनेतर भारतीय वास्तु :

इसके अंतर्गत ईसा के प्रथम शताब्दी के प्रारंभ होते होते निर्मित अनेक नाटयगृह, सभागृह, अतिथि-शालायें एवं विविध हिन्दू मंदिर आ जाते हैं। तत्कालीन साहित्य में आये हुये अनेक साहित्यिक उल्लेखों में

में नाट्यगृहों का जो वर्णन आया है उससे प्रकट है कि, उस युग में नगरों में और विशेष कर राजधानियों में नाट्य–गृह थे। जो कलापूर्ण ढंग से अलंकृत किये जाते थे। इसी प्रकार सभागृह तथा अतिथि शालायें समय समय पर निर्मित होती हुई समकालीन कलात्मक विशेषताओं को धारण करती गईं। ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास हिन्दू मंदिरों का निर्माण तथा उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा होनी आरंभ हो गई। संभवतः यह काल भागवत धर्म के नवीनतम विकास का रहा होगा। कहना न होगा कि मंदिर धार्मिक वास्तु हैं, जिनमें भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट विकास मिलता है। भारतीय धर्म में, मूर्तिपूजा के विकास काल में मूर्तियों के निर्माण की आवश्यकता स्वाभाविक रूप से पड़ी और इसी आवश्यकता ने प्रायः सभी मत–संप्रदायों के मंदिरों के निर्माण की नींव डाली।

जहाँतक मंदिरों के निर्माण काल की बात है, उसके संबंध में यह कहना उययुक्त न होगा कि उनका निर्माण कार्य इस्वी सन् के आरंभ होने के लगभग ही हुआ होगा, क्यों कि पूर्ववर्ती मंदिर निर्माण के अनेक साहित्यिक उल्लेख हमे मिलते हैं, परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धर्म–साधना के अंतर्गत मूर्तिपूजा के नवीनतम विकास ने एक विशाल संख्या में मंदिर निर्माण की प्रेरणा दी होगी। इस कला का पूर्ण रूपेण विकास गुप्तवंश के शासन काल के आसपास विशेष रूपसे हुआ था। अतएव उसपर विचार करने से पहले हम पूर्ववर्ती भारतीय वास्तु-कला की अवस्था पर संक्षेप में विचार करेंगे।

प्राचीन अवशेषों में से भीटा का पंचमुखी शिवलिंग प्राप्त हुआ है जिसपर ई. पूर्व की द्वितीय शताब्दी का शिलालेख अंकित हुआ मिलता है। इसमें वास्तु–निर्माण का विशेष पता नहीं चलता परन्तु शिलालेख के आधार पर उसके निर्माण के कालका निश्चय हो जाता है। इसी

प्रकार कलिंगराज खारवेल के (१६० ई. पूर्व) अेक शिलालेख में शिखर मंदिर तथा उदयपुर में प्राप्त तीन अभिलेख तथा घुसंडी के अभिलेखोंमें मंदिरों के निर्माण के उल्लेख मिलते हैं, और नारायण बाटिका के निर्माण का भी उल्लेख है। हाथीवाड़ा नामक स्थानकी खुदाई में दस फीट ऊँची दीवाल वाले आयताकार भवन मिले हैं। विदिशा में शीर्षहीन गरूणध्वज प्राप्त हुआ है जिससे १४० ई. पूर्व यवन राजदूत हेलिटोर ने वासुदेव के सम्मान में निर्माण किया था। प्रसिद्ध है कि वह अपनें को 'परम भागवत' कहलाने में गर्व का अनुभव करता था।

उपर्युक्त उल्लेखों से प्रकट है कि गुप्तवंशीय शासन के पूर्व में मंदिर-वास्तु अवश्य रहा होगा जो कि आज अप्राप्य है, परन्तु इस काल में आकर भारतीय वास्तु-कला अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गई। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारीयों के शासन काल में बनारस, सारनाथ तथा अन्य स्थानोंपर पत्थर के बिशाल मंदिरों का निर्माण हुआ था जिनकी दिवारों, स्तंभों और छतों पर बहुत सी मूर्तियाँ थी बहुतसी नष्ट हो गई हैं, और कुछ शेष भी बची हैं। एक और विशेष बात जो इस काल में कही जा सकती है कि वास्तु-निर्माण में पत्थर के अतिरिक्त लोहे और तांबे का उपयोग किया गया है। समुद्रगुप्त द्वारा निर्मित दिल्ली का लोहस्तंभ तत्कालीन वास्तुकला की निपुणता का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता हैं। इसी प्रकार सन ४५६ ई. के लगभग सम्राट स्कंदगुप्त ने हूणों और पुष्यमित्रों पर विजय प्राप्त करने के स्मृतिमें वर्तमान गाजीपुर जिले में (उत्तर प्रदेश) भीतरी स्तंभ खड़ा करवाया स्तंभ निर्माण के राजकीय प्रयत्नों के अतिरिक्त देश की जनता के स्तंभनिर्माण के भी उदाहरण मिलते हैं। सन ४६०–६१ ई. के आसपास वर्तमान गोरखपुर जिले के कहावन नामक स्थान पर एक जैन ने स्तंभ बनवाया जिसपर पांच जैन सिद्धों की मूर्तियाँ है। इन के अतिरिक्त मध्य प्रदेश के बेजनगर (प्राचीन भूपाल रियासत) के पास उदयगिरी

की पहाडों पर सन ४०१ ईस्वी की चंद्रगुप्त के गुफाओं में अजंता आदि को पूर्वोक्त विशेतायें मिलती हैं।

इस युग की एक अन्य विशेषता वास्तुशास्त्र पर शास्त्रीय विवेचन की भी है। वैसे तो मत्स्य, स्कंद, अग्नि, नारद, लिंग और भविष्य पुराणों, शुक्रनीति तथा कौटल्यीय अर्थशास्त्र में भवन निर्माण, मूर्ति निर्माण, नगर व्यवस्था आदि के संक्षिप्त विवरण मिलते हैं. परंतु छठी–सातवीं शताब्दी इस्वी में लिये गये 'मानसार' नामक ग्रंथ में दूसरा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है मानसार के प्रथम अध्याय के अनुसार यह विद्या ऋषियों को इंद्र, बृहस्पति, नारद इत्यादि के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, और शिव से मिली थी। अध्याय नौ में गाँव के चारों ओर लकड़ी पत्थर की चार दिवाल, चार सदर फाटक, उन्हें मिलाने की सड़कों का निर्माण, बस्ती में तालाब और नालियों आदि की व्यवस्था का भली भाँति विवरण दिया गया है। नगरों के आठ प्रकार बताये गये हैं राजधानी, नगर, पुर, नगरी, खेट, खर्वाट, कुब्जक, पट्टन, जिनमें बाजार, दुकान, मंदिर, सराय, विद्यालय, नाटकगृह और रंगमंच आदि की समुचित व्यवस्था पर भली भाँति विचार किया गया है। उपर्युक्त विवरण इस महत्वपूर्ण तथ्यका स्पष्ट द्योतक है कि उस युग में वास्तुकला का उत्कृष्टतम विकास हो चुका था और उसे कालांतर में वैज्ञानिक आधार भी प्राप्त हो गया था।

भारतीय मंदिरों के नवीन विकास का प्राचीनतम रूप साँची के गुप्तकालीन मंदीर में मिलता है। इस मंदिर में वर्गाकार गर्भगृह के सामने चार मोटे स्तंभों वाला मंडप है। स्तंभ चौकोर और पच्चीकारी से अलंकृत हैं। इस प्रकार के मंदिर तिगोवा, एरण, गढ़वा और उदयगिरि में भी मिलते हैं। जिनका निर्माण काल भी पाँचवीं शताब्दी के लगभग का है। कालांतर में इनकी वास्तुकला के विकास के परिणाम स्वरूप

मंडप और गर्भगृह के मध्य में छोटे कमरों का निर्माण होने लगा था जिसे 'अंतराल' कहते हैं। उपर्युक्त मंदिरो के अतिरिक्त इस प्रसंग पर नागौद स्टेट के भूमरा और अजयगढ़ (बुन्देलखंड) के नयनाकुठरी के दो मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनों मंदिर लगभग एक से हैं। भूमरा के शिवमंदिर में सपाट छतों का गर्भगृह और अलंकृत द्वार है, जिसके दोनों किनारों पर गंगा यमुना के चित्र हैं और चौखट पर पंचमुखी महादेव और अप्सरा के चित्र अंकित हैं। "गर्भगृह के चारों ओर के विशाल कमरे का ध्वंसावशेष पड़ा है जो छतयुक्त, प्रदक्षिणा पथ और उससे लगा मंडप रहा होगा। इन मंदिरों की एक अन्य विशेषता गर्भगृह के द्वार का अलंकरण है[1]"। इसी प्रकार चौथी शती में निर्मित सपाट छतवाले मंदिरों में ऐहोले का लाड़खाँ–मंदिर भी महत्वपूर्ण है, जिसकी ऊँचाई पहले की मदिरों की अपेक्षा कृत बहुत कम है। द्वारों और स्तंभों का निर्माण तथा अलंकरण पहले के मंदिरों जैसा ही है, इसके अतिरिक्त ऐहोले में तीन अन्य मंदिर ऐसे हैं, जिनपर या तो शिखर है ही नहीं अथवा बाद में जोड़े गये हैं[2]। दक्षिण भारत में दूसरे प्रकार के ऐसे शीर्षहीन मंदिर भी पाये जाते हैं जिन की छतें कुब्ज–पृष्ठ अथवा हस्तीपीठ सदृश हैं और उनका आकार बौद्ध–चैत्यों का सा है। इस प्रकार के मंदिरों में शोलापुर जिले के, तेर (तगर) जिले के, चिजरला में कपोतेश्वर का मंदिर, भुवनेश्वर का बैताल देवल, तथा ग्वालियर के तेली के वैष्णव मंदिरों की गणना की जा सकती है।

गुप्त वंशीय शासन काल में भागवत धर्म का जागरण प्रगतिवान हो चला। कहना न होगा कि गुप्त सम्राट वैष्णव थे। उनके समय से पौराणिक वैष्णव धर्म ने और जोर पकड़ा जो उसके बादभी और दीर्घ

---

[1] वही पृष्ठ ८७.

[2] वही पृष्ठ ८८.

कालतक उन्नति करता गया। पौराणिक धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, काली आदि अनेक देवी देवताओं की पूजा उपासना का विकास हुआ, फलतः भारतीय धर्म साधना के अंतर्गत संप्रदाय अथवा इष्टदेव के भेद से तत्संबंधी अनेक देवी देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई, जिसने मंदिर के क्षेत्र में भी विविधता ला दी। गुप्त वंशीय शासन के पश्चात ही पुराण धर्मावलंबी राजवंशियो का शासन रहा। लगभग इसी काल से अथवा गुप्त वंशीय शासन काल के कुछ बाद से मंदिर निर्माण में एक नवीन शैली का विकास हुआ, जो शिखर शैली के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन शिल्पशास्त्रों में इस शैली के नागर, बेसर और द्रविड़ नामक तीन भेद बताये गये हैं, जिन्हे कुमारस्वामी ने(उत्तरीय–विंध्य के उत्तर), माध्यमिक (पश्चिमी भारत और दक्षिणी पठार) तथा दक्षिणी (मद्रास और लंका) नाम दिया है। मोटे तौर पर बाह्य आकार के भेद से इन समस्त मंदिरों को दो भागो मे बाँट सकते हैं :– १. उत्तर भारत और २. दक्षिणपथ के मंदिर।

इस प्रसंग पर यह उल्लेखनीय है कि इस काल के उत्तर और दक्षिण के मंदिरो में जो अंतर पाया जाता है, वह बाह्य आकार का ही है और जहाँ तक उनकी योजना की भावना तथा निर्मिति की सांस्कृतिक प्रेरणा की बात है, उसमें एकरूपता है। प्रायः सभी मंदिरों में चौकोर गर्भगृह होता है जिस में मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है। गर्भगृह के सामने मंडप होता है। कभी कभी उसके चारों ओर सँकरे रास्ते वाला प्रदक्षिणा पथ भी बनाया जाता है, जिसकी ऊँचाई मुख्य मंदिर से कभी-कभी कम ही रखी जाती है। यदि मंदिर राजाज्ञा से अथवा तीर्थस्थान पर निमित हुआ तो उसमें दर्शनार्थियों की अधिक भीड़ का विचार कर के सामने एक बड़ा सा बरामदा बना दिया जाता था। आगे चलकर ग्यारहवीं शती के मंदिरों के सामने एक विशाल फाटक

बनाने की प्रथा चल पड़ी, जिसे " गोपुर " कहते हैं।[1] इसके अतिरिक्त मंदिरों के सामने दीपस्तम बनाने के भी परंपरा का पता चलता है। एलोरा के कैलाश मंदिर के सामने का दीपस्तंभ असाधारण रूप से सुंदर है। मध्य काल में आकर इन दीपस्तंभों का अत्यंत आकर्षक अलंकरण प्रस्तुत किया जाने लगा। इस प्रकारका निर्माण अधिकांशतः दक्षिण भारत की देन है।

उत्तर के मंदिर –

उत्तर के शिखर मंदिर को नागर नाम से पुकारा जाता है। नागर शिखर–मंदिर की योजना में आयताकार गर्भगृह के ऊपर ऊँचा मीनार सा होता है, जो गोल, चौकोर अथवा अन्य जामित्याकार आयतन में होता है और त्रिकोण की भाँति ऊपर पतला होता जाता है।[2] नागर शिखर को शुक-नासा शिखर भी कहते हैं, क्योंकि उसका आकार प्रायः तोते की चोंच के समान गोलाकार और नोकीला होता है। शिखर के छोर पर एक आमलक के आकार का कलश होता है, जिसके ऊपरी शृंग के रूप में कोई न कोई धार्मिक प्रतीक बना होता है। इस शैली के संबंध में कहा जाता है कि उसका प्रचार नागराजाओं ने किया था, जिसके कारण उसका नामकरण ' नागर ' किया गया। कहना न होगा कि आज भी उस प्रकारके शिखर मंदिर बनाये जाते हैं।

उड़ीसा में पुरी, भुवनेश्वर, कोणार्क के विशाल मंदिर हिंदू-वास्तुकला के सुंदर उदाहरण हैं और इतना ही नहीं, इन स्थानों में एक नहीं सैकड़ों मंदिरों के समूह वर्तमान हैं। भुवनेश्वर में लगभग पाँच-छः सौ मंदिरों का

---

[1] परमेश्वरीलाल गुप्त : भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ ९१

[2] वही पृष्ठ ९१.

समूह है, जिनमें हजारों मूर्तियाँ है। इस मंदिर समूह में परशुरामेश्वर (निर्माण काल ७६० ईस्वी) मुक्तेश्वर (निर्माण काल ९५० इस्वी), लिंगराज और मेत्रेश्वर के मंदिर प्रमुख हैं। परशुरामेश्वर के मंदिर का आकार कुछ नाटा और शुण्डाकार है, जिसका जगमोहन दुतल्ला और ठोस छतों के बीच में रोशन-दान है मुक्तेश्वर का जगमोहन उड़ीसा के अन्य मंदिरों से अधिक सुंदर तथा वैज्ञानिक है। इन मंदिरों का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण लिंगराज मंदिर है जो कि परंपरानुसार सातवीं शताब्दी के सम्राट ललितेंद्र केसरी का बनवाया कहा जाता है। भुवनेश्वर के मंदिरों के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि इसमें प्रारंभ में एक शिखर अथवा स्तूप था जिसके साथ जगमोहन नटमण्डप तथा भोगमण्डप लगभग बारहवी शताब्दी में सम्मिलित किये गये जब कि सोमवंश के शैव राजाओं नेयहाँ शिव-मंदिर बनवाये थे।[1] जगन्नाथ पुरी के मंदिर का निर्माण गंग वंश के वैष्णव मतानुयायी राजाओं द्वारा बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में निर्मित हुआ था। इस मंदिर में एक माता और बच्चे की मूर्ति बड़ी सुंदर और भाव प्रदर्शक है। यह दुहरी दीवाल से घिरा हुआ है जिसमें चार खुलने के स्थान हैं, इसका विमान एक सौ बयालिस फीट ऊँचा, पूर्व और पश्चिम में एक सौ पचपन फीट का जगमोहन तथा नटमंडप और भोगमंडप मिलाकर पूरे मंदिर की लंबाई लगभग तीन सौ फीट हो गई है। इसके साथही असंख्य छोटे मंदिर, उनसे संलग्न विवाद गृह, शिक्षा-गृह, सभा गृह तथा भोजन वितरण के खुले स्थान एवं निवास-गृह हैं। वास्तु-विन्यास की दृष्टि से भुवनेश्वर के श्रेष्ठ मंदिरों की अपेक्षा पुरी का बड़ा मंदिर निम्न श्रेणी का है, परंतु महत्व की दृष्टि से इसकी बड़ी ख्याति है। पुरी से उन्नीस मील के अंतर पर स्थित कोणार्क का सूर्य मंदिर भी उतना

---

[1] डॉ. प्रसन्नकुमार आचार्य — "भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता" अध्याय पांच, "आधारभूत कलायें" पृष्ठ २०५.

ही प्रख्यात है। अबुलफजल के विवरणानुसार इसे राजा नरसिंह देव प्रथम (१२३८ ई. स. १२६४ ई. तक) ने बनवाया था। इस में भी उपर्युक्त मंदिरों की भाँति चार विभाग है, परंतु अन्य मंदिरों से इस में भव्यता अधिक आ गई है। इसका शिखर आज नष्ट हो चुका है। इसका आधार एक रथकी भाँति है, जिसमें नौ फीट ऊँचे आठ पहिये हैं। बाहर की ओर सात विशाल घोड़े हैं। इस के अतिरिक्त मंदिर के अंदर हाथियों की विशाल मूर्तियाँ हैं।

उड़ीसा के मंदिरों के पश्चात खजुराहो के लगभग तीस मंदिरों का समूह (बुंदेलखंड की रियासत में) है, जिनका निर्माण ९०० और ११०० ईस्वी के बीच हुआ बताया जाता है। इनमें से ६४ जोगिनी और गंठाई के दो मंदिरों को छोडकर शेष शैव, वैष्णव और जैनों के मंदिर हैं। शैव मंदिरों में महादेव और वैष्णव मंदिरों में विष्णु की चतुर्भुजी, तथा रामचंद्र की मूर्तियाँ है। कहना न होगा कि, खजुराहो चंदेल राजाओं की राजधानो रहा है। यहां के मंदिरों में से शिव-मंदिर सबसे महत्वपूर्ण एवं सुंदर है जिसे "कण्डरिया नाथ महादेव" का मंदिर भी कहा जाता है। इसका निर्माण उड़ीसा के भुवनेश्वर मंदिरों की भाँति हुआ है। इन तीन मंदिरों में प्रथम दो को छोड़कर शेष चंदेल राजाओं द्वारा निर्मित हुये थे, अतएव उनकी संप्रदायगत भिन्नता भारतीय सामुहिक भावना, सहिष्णुता एवं जातीय सहयोग की सुस्पष्ट द्योतिका है। खजुराहो के मंदिर की भाँति नागदा में भी शिव, विष्णु और जैन मंदिरों का समूह हैं। जिनमें से सबसे अच्छे दो मंदिर हैं, जो सास बहू कहलाते हैं। इनका निर्माण बारहवीं शताब्दी में हुआ था।

उपर्युक्त मंदिरों की ही भाँति राजपूताना, गुजरात, मध्यभारत तथा वर्तमान उत्तर प्रदेश के भी अनेक प्राचीन मंदिर अपने चारों ओर केंद्रित सार्वजनिक जीवन के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सभी का पृथक-पृथक

एवं विस्तृत विवेचन इस पुस्तक में संभव नहीं है। सुप्रसिद्ध मीराबाई तथा उनके पति चित्तौड़ के राजा कुंभ ने (सन् १४१२ से १४६८ ईस्वी) दो विष्णु मंदिर बनवाये। इसके अतिरिक्त राजा कुंभा वैष्णव धर्मानुयायी होकर भी जैनियों के समर्थक थे। अतएव उन्होंने रणपुर के जैन मंदिर तथा चित्तौड़ के किर्ति–स्तंभ के निर्माण में भी आर्थिक योग दिया था। इस कीर्तिस्तंभ का अलंकरण अत्यंत उत्कृष्ट हुआ है। इनमे देवी-देवताओं के अतिरिक्त गिरनार (काठियावाड़) और पालिटाणा में प्रसिद्ध (गुजरात) जैन तीर्थ होने के कारण वहाँ अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ था, जिन्हें तरंग–स्थित कुमार पाल कृत अीजतनाथ का मंदिर और गिरनार में नेमिनाथ का मंदिर (निर्माण काला १२७८ ईस्वी) अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। गिरनार वाले मंदिर के सभायुक्त मंडप में सत्तर गर्भगृह तथा उसके जीर्णोद्धार किए जाने का भी पता लगता है। गुजरात के अनेक मंदिर मुसलमान विजेताओं की धर्मान्ध नीति के परिणाम स्वरूप ध्वस्त हो चुके है। इन मंदिरों में अन्हिलवाड़े के प्रसिद्ध वास्तुप्रेमी शासक सिद्धराज (१०९३-११४३ ईस्वी) द्वारा निर्मित नगर सिद्धपुर में थे। एक अन्य विशाल मंदिर वेदनगर तथा सूर्य का मंदिर मुधेरा में था। अन्हिलवाड़ा में इस काल के मंदिरों के ध्वंसावशेष मात्र मिलते है। काठियावाड़ का सोमनाथ का मंदिर ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत प्रसिद्ध है, जिसे महमूद गजनवी ने ध्वस्त किया था। हमारी वर्तमान सरकार ने अब उस के द्वार की प्रतिष्ठा एवं जीर्णोद्धार कराया है। इसके पूर्व कुमारपाल द्वारा (११४३–११७४ ईस्वी) यह दुबारा बनवाया गया, परंतु आगे चलकर मुस्लिम शासकों की कोप–दृष्टि का लक्ष्य बनकर ध्वस्त हुआ।

इसी प्रकार मध्यभारत में चंबल के मुहाने के निकट स्थित बरोली के मंदिर में एक अलग ड्योढ़ी मिलती है, जो कि विवाह-मंडप कहलाता था। कहा जाता है कि इसका निर्माण नवीं–दसवीं शताब्दी के बीच

हूण राजा और राजपूत वधू के विवाह के लिये किया गया था। ग्वालियर में प्राचीन वास्तु के अच्छे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें गढ़ के शासक द्वारा निर्मित चतुर्भुज विष्णुमंदिर (निर्माण काल ८७५ ईस्वी), तथा ९०३ ई. का विष्णुमंदिर आदि प्रमुख हैं।

उत्तर भारत के मंदिरों में से मथुरा वृंदावन के मंदिर भारतीय वास्तु का सुंदर उदाहरण है। कहना न होगा कि यहाँ कीं वास्तुकला का बहुत बड़ा भाग ध्वस्त होकर नष्टप्राय हो चुका है, तथापि जो प्राचीन साहित्यिक उल्लेख मिलतें हैं उनके आधार पर वास्तुकला की उत्कृष्टता नि:संदिग्ध रूप में स्वीकार की जा सकती है। ग्यारहवीं शती में महमुद गजनवी के सेवक अल्उत्वी ने लिखा है कि, "शहर के बीच में एक बड़ा मंदिर है जो औरों से बड़ा तथा सुंदर है जिसका न वर्णन हो सकता है और न चित्र खींचा जा सकता है"। इतना ही नहीं अपितु महमूद गजनवी ने इसका वर्णन करते हुये लिखा है कि "अगर कोई इसके मुकाबिले इमारत बनाना चाहे तो एक अरब सोने की दीनार खर्च किये बिना न बन सकेगा, योग्य से योग्य और तजरूबेकार से तजरूबेकार कारीगर लगाये जाय तो भी बनाने में दो सौ वर्ष लगेंगे[1]"। इसके अतिरिक्त मूर्तिकला के भी सुंदर उदाहरण यहाँ के मंदिरों में भी मिलतें हैं, जिनका विवरण आगे के पृष्ठों में प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया जावेगा। कहना न होगा कि ये मंदिर इतने सुदृढ़ थे कि ऐतिहासिक विवरण यह बताते हैं कि महमूद इन्हे बड़ी कठिनाई से तोड सका था। मुगल कालीन भारतीय वास्तु का अत्यंत सुंदर उदाहरण वृंदावन में स्थित गोविंददेव का मंदिर है, जो अकबर के शासन काल में निर्मित हुआ है। इसकी ऊँचाई और भव्यता, सभी दृष्टि से इस में उच्च कोटि की भारतीय वास्तुकला प्रकट हुई है।

[1] डॉ. बेनीप्रसाद-' हिंदुस्थान की पुरानी सभ्यता ' पृष्ठ ४२६.

उत्तर भारत के मंदिरों में काश्मीर शैली के मंदिरों का अपना एक अलग व्यक्तित्व है, इसका निर्माण सन् ७५० ईस्वी और १२०० ईस्वी के बीच का है। ये मंदिर पूर्वोक्त मंदिरों से छोटे हैं, इनमें से किसी किसी में चारों ओर दीवालें भी मिलती हैं। प्राचीन राजधानी इस्लामाबाद से पाँच मील दूर ललितादित्य द्वारा (७२४-७६०. ईस्वी) बनाया हुआ मार्तंड का मंदिर इन सब में से विशाल है, जिसकी दीवालों के पास चौरासी स्तंभों का एक घेरा है। घेरे के बीच इसका दो सौ बीस फीट लंबा और एक सौ बयालीस फीट चौड़ा आँगन, कला का सुंदर उदाहरण है। मंदिर की छतें नष्ट हो चुकी हैं। परन्तु मंदिर की विशालता देखकर अनुमान किया जाता है कि व्यक्तियों के सामूहिक मिलन का स्थान रहा होगा। कल्हण की राजतरंगिणी के निर्देशानुसार मार्तंड का आश्चर्यजनक मंदिर ऊँची दीवालों और घेरे सहित महाराज ललितादित्य द्वारा निर्मित हुआ था। आगे चलकर सिकंद शाह मुत-शिकत ने (१३९३-१४१६ इस्वी) ने मंदिर को तोड़कर मंदिर को तोड़कर मंदिर की दीवालों को भी ध्वस्त कर दिया था। इसके अतिरिक्त इसी शैली में बने हुये वातपुर के मंदिर पे अवंतिपुर के मंदिरों में पहले की अपेक्षा नक्काशी अधिक है। इसे राजा अवंतिपुर-वर्मन ने (८५६-८८३ ईस्वी) बनवाया था। श्रीनगर और बारमूला के बीच शंकरपुर अथवा आधुनिक पाटन में अवंतिवर्मन् के उत्तराधिकारी पुत्र शंकरवर्मन (८८३-९०३ ईस्वी) और उसकी रानी श्रीगंधा ने दो शिवमंदिर बनवाये जो आज भी हैं। यद्यपि उनके बरामदे टूट चुके हैं; परंतु बुनियार का मंदिर, जो कि लगभग पूर्ण है, से हमें काश्मीर के मंदिरों की वास्तु-शैली का पता चल सकता है।

काश्मीर के मंदिरों की भाँति कांगड़ा और नेपाल के मंदिर भी प्राचीन भारतीय वास्तु के अच्छे उदाहरण हैं। कांगड़ा घाटी के दो मंदिर

---

[1] वही – पृष्ठ ४२७.

जो कि दो धनी व्यापारियों द्वारा बनाये गये थे, सार्वजनिक वास्तुनिर्माण को अभिसंधि का परिचय देते हैं। नेपाल में इस समय भी लगभग दो हजार मंदिर वर्तमान हैं, जिन में अधिकांशत: हिन्दू-शैली के दर्शन होते हैं। नेपाल में बौद्ध कला का विकास आठवीं शती के लगभग हुआ था। काठमांडू, पाटन और भटगाँव के नगरों में शैव, वैष्णव और बौद्ध धर्म के पवित्र स्थान अधिकता से पाये जाते हैं। इन मंदिरों की मूर्तियों में आधुनिकता अधिक है जिस में ऐश्वर्य नहीं देख पड़ता, जो भारत के अन्य स्थानों के मंदिरों में मिलता है। बाँकेवरदिया जिले के देवी और शिव के मंदिर भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। नेपाल के प्राय: सभी मंदिरों में छत विशेष वस्तु है, और दीवालों के निर्माण में उतना ध्यान नहीं दिया जाता। कुछ मंदिरों में चबूतरों पर चबूतरें हैं, जिनकी सीढ़ियों पर हाथी शेर और वीरों की मूर्तियाँ हैं। सबसे ऊँचे चबूतरे पर मुख्य मंदिर है। ऊपर नेपाल के प्रमुख तीन मंदिरों का जो उल्लेख किया गया है उसके संबंध में संक्षेप में यह दृष्टिगत कर लेना आवश्यक होगा कि इन तीनों स्थानों के मंदिरों के निर्माण संबंधी अलग अलग विशेषतायें हैं। काठमांडू के मंदिर अधिकांशत: शिव अथवा विष्णु के हैं, जिनकी अनेक मंजिले चीन के मंदिरों की समता करतीं हैं। पाटन का मंदिर बुद्ध का है जिसकी मुख्य विशेषता पाँचवी मंजिल में बज्रधातु मंडप और उसके बाहर की ओर मणि-जटित चैत्य है। वहाँ का हिन्दु मंदिर ढालू छत का सुंदर उदाहरण है, जो कि पाँच वेदिका वाले पिरामिड पर बनवाया गया था। नेपाली मंदिरों से साम्य रखनेवाले मंदिर त्रावनकोर-कोचीन तथा बाली में भी पाये जाते हैं।

उत्तर भारत के उपर्युक्त मंदिरों के अतिरिक्त बोधगया और बंगाल के मंदिर भारतीय वास्तु का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बुद्ध–गया का बोधि मंदिर कई खंडो वाले घर की भाँति ऊपर की ओर

सँकरा होता गया है और शिखर आवृत का बना है। कहना न होगा कि इसका शिखर अन्य अनेक मंदिरों की भाँति शुण्डाकार अथवा गोल गुम्बद का रूप नहीं हैं। इस मंदिर का वर्तमान रूप सन १८८० ई. १८८१ ई. का जीर्णोद्धारित रूप है, जिसके पूर्व भी सन् ११७५ और १२९८ ईस्वी में बर्मा निवासियों ने इसी प्रकार का प्रयत्न किया था। इस मंदिर के नीचे के प्रवेश द्वार के ऊपर एक लंबी पतली खिड़की है, जिससे प्रकाश अंदर जा सके। संपूर्ण मंदिर चबूतरे पर स्थित है। इसी प्रकार बंगाल के चंडी-मंडप तथा अन्य मंदिरों का रूप, अन्य प्रांतों के मंदिरों से, सर्वथा भिन्न निजी व्यक्तित्व रखता है। "उनके विकास के संबंध में अनुमान किया जाता है कि वे वास्तुकला में काष्ठ और बाँस के उपयोग भी प्राचीन-परंपरा के अनुकरण पर हुए हैं"।[1] बंगाल के शिखर मंदिरों में भी वहाँ के पत्तों के बने साधारण झोपड़ों का स्पष्ट अनुकरण जान पड़ता है। "उनका शीर्ष गर्भगृह के ऊपर से वर्तुलाकार जाकर कुछ सपाट सा हो जाता है, फिर ऊपर दूसरी ओर किन्तु छोटी वर्तुलाकार छत की पुनरावृत्ति होती है।[2] इसका विकसित रूप सन १६७५ ईस्वी में बने रानी भवानी के मंदिर में देखने को मिलता है। दक्षिणेश्वर (कलकत्ता) के निकट बने हुये रामकृष्ण परमहंस के सुप्रसिद्ध मंदिर में इसी रूप की पुनरावृत्ति की गई है। इसी प्रकार मुर्शिदाबाद के निकट बड़नगर के चोर बंगला नामक मंदिर तथा उसी जिले के कुसुमबोला के मंदिर भी बंगाल के मुख्य मंदिरों में से है।

दक्षिण भारत की वास्तु कला -

विंध्य पर्वत शृंखला के दक्षिण का प्रदेश जो कि दक्षिणापथ कहा जाता है, में उत्तर से भिन्न प्रकार की वास्तुकला का आविर्भाव तथा

---

[1] परमेश्वरीलाल गुप्त : भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ ९२.

[2] वहीं.

विकास हुआ है और इसका संबंध उत्तर की अपेक्षा द्रविड़ जाति एवं संस्कृति से अधिक रहा है। यहाँ के राजाओं ने अनेक ऐसे भव्य मंदिर निर्माण करवाये हैं, जिनमें से कुछ तो संसार की अद्भुत इमारतों में से है। कहना न होगा कि उत्तर की भाँति दक्षिण भारत मुसलमान विजेताओं द्वारा उतना आक्रांत नहीं हुआ, अतएव वहां की वास्तुकला अबतक रक्षित रह पाई है। इस परिस्थिति विशेष के कारण दक्षिण की वास्तुशैली का इतिहास कलाकृतियों में क्रमबद्ध रूप में सुरक्षित है। इस शैली का आरभ ईस्वी सन के छठी शताब्दी में हुआ था, जो अबतक प्रचलित है।

कहना न होगा कि दक्षिण की वास्तुकला अधिकांशतः प्रादेशिक शासकों की क्षत्र-छाया में हुआ है, अतएव उस के आधार पर ऐतिहासिक एवं स्थानीय विशेषताओं को दृष्टिकोण में रखते हुये परमेश्वरीलाल गुप्त ने शासक वंशो के आधार पर विविध शैलियों में बांटा है, जो क्रमशः पल्लव, चोल, पांडच, चालुक्य, विजय-नगर और मथुरा आदि हैं। दक्षिण भारत का अधिकांश भाग दीर्घ काल तक विदेशी आतंक से सर्वथा मुक्त रहा है, जिसके कारण भारतीय कला एवं संस्कृति का विकास वहाँ निर्बाध रूप से हो पाया है। सांस्कृतिक दृष्टिसे इन समस्त वास्तु कृतियों को चालुक्य और द्रविड़ नामक दो बड़े समूहों में बाँट सकते है। द्रविड़ शैली के मंदिर म्हैसुर, हैदराबाद और उड़ीसा के किनारे के पास तथा देश के बिलकुल दक्षिण भाग में फैले हुये हैं, और चालुक्य शैली के इन प्रदेशों को छोड़ कर शेष समस्त दक्षिण में।

पल्लव राजाओं द्वारा आरंभ कालीन प्रस्तर विद्ध मंदीर अपने विविध आकारों प्रकारों में अर्काट तथा त्रिचनापल्ली के जिलों के किलमविलगई, मल्लरम, दलवानुर, महेन्द्रवाड़ी, मंगलराजपुरम्, मैरवोण,

पृथामंगलम्, महावल्लीपुरम् तथा त्रिचनापल्ली नगर आदि में पाये जाते हैं। इन में अधिकांश के निर्माण का श्रेय तामिल सभ्यता में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले शासक महेन्द्रवर्मन् (६००–६२५ इस्वी) के हैं और उसी नाम पर पल्लव-मंदिरों की शैली को 'महेंद्र शैली' भी कहा जाता है।[1] इन मंदिरों की सामान्य विशेषतायें, वर्गाकार गर्भगृह में लिंग की स्थापना, उसके सामने मोटे वर्गाकार स्तंभों से युक्त बरामदा सादे या पहलूदार टोड़े, गोल ढले हुये कारनीस सादी दीवाल, बीच बीच में नरमुण्ड मुक्त आराला ताख आदि हैं। कहीं कहीं बौद्ध शैली के बाढ़ (रेलिंग) भी पाये जाते हैं। इस शैली का विकसित रूप महावल्लीपुरम् और मम्मलपुरम् के संस्थापक नरसिंहवर्मन् (६२५–६५० ईस्वी) द्वारा निर्मित वास्तु में मिलता है।[2] सातवीं शती में चट्टानों को काटकर बनाये हुये त्रिमूर्ति, वाराह, दुर्गा और पंच-पांडव के मंदिर भी इन प्रदेशों में प्राप्त होते हैं। पल्लव शैली का पूर्णतया विकसित रूप कांचीपुरम् के सुप्रसिद्ध कैलाशनाथ मंदिर (७०० ईस्वी) में देखने को मिलता है। चारों ओर स्तंभो से घिरे हुये इस मंदिर में रथ-सदृश छोटे छोटे कमरे बने हुये हैं। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में चालुक्य राजाओं द्वारा बनाये गये एलोरा के लयण-मंदिरों में से रावण की खाई, घूमर लेण तथा रामेश्वर प्रमुख है।

मैसूर और कनाड़ी प्रदेशों के प्राचीन सुंदर मंदिर अधिकतर मुसलमान आक्रमकों तथा पश्चात् कालीन मुस्लिम शासकों द्वारा नष्ट किये जा चुके हैं। इनमें से जो सुरक्षित बचे हैं उनमें गड़ग का सोमेश्वर मंदिर, इतभी काबड़ा मंदिर, मुक्तेश्वर का चंदरमपुरम् मंदिर, कुरूवत्ती का मल्लिकार्जुन का मंदिर (तुंगभद्रा के दक्षिणी तट पर) गालगानाथ

---

[1] परमेश्वरीलाल गुप्त – भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ ११८,

[2] वही पृष्ठ ११९.

का गालगेश्वर मंदिर, तथा हालवीद का केदारेश्वर का मंदिर आदि चालुक्य शैली के भव्यतम उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त सन् १००० ईस्वी से लेकर १३०० ईस्वी तक के तीन सौ वर्षों में मैसूर के हायसाल पाल राजाओं ने अनेक मंदिर बनवाये। मैसूर, हैदराबाद तथा बिलकुल दक्षिण भाग में असंख्य द्रविड़ मंदिर फैले हुये हैं[1], जिनका अलग अलग विवरण देना प्रस्तुत पुस्तक के लघु कलेवर में स्थानाभाव के कारण अनुपयुक्त होगा, परंतु यह उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्ती पृष्ठों में द्रविड़ शैली की जिन विशेषताओं पर विचार किया है, वे सभी विशेषतायें इन मंदिरों में मिलती हैं। कहना न होगा कि भारतीय धर्मसाधना के विविध संप्रदायों के अनुसार तत्संबंधीं मदिरों में अलग अलग देवताओं की प्रतिष्ठा होती रही है, तथापि वास्तुकला की दृष्टि से उनमें प्रादेशिक विशेषता की एकरूपता है। चौदहवीं शताब्दी इस्वीं से लेकर सोलहवीं शताब्दी ईस्वी तक के लगभग दो सौ वर्षों में प्रतिष्ठित रहने वाले विजय नगर साम्राज्य के शासकों के काल में मंदिरों के अतिरिक्त दक्षिण में अनेक सभागृह, पुस्तकालय तथा राजभवन निर्मित हुये, जिनमें से बहमनी साम्राज्य के विजेता सुल्तानों द्वारा सन १५६५ ईस्वी के **ताली-कोट** के युद्ध में नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में भारतीय वास्तुकला का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर दो महत्वपूर्ण तथ्य स्वभावत: सामने आ जाते है।

१. जहाँ तक हिंदु वास्तु निर्माग की बात है वहाँ उसकी निर्मिति में देश के शासक तथा देश की जनता–दोनो का हाथ रहा है।

२. दूसरे आगे चलकर जब देश मुस्लिम विजेताओं के अधिकार में आया तो यहाँ की जनता की सांस्कृतिक प्रेरणा मंदिरों तथा धार्मिक

---

[1] डॉ. पी. के. आचार्य "भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता" अध्याय ५ 'आधारभूत कलायें' पृष्ठ २१५.

संस्थानों का निर्माण कर वास्तुकला के क्षेत्र में निरंतर योग दान करती आई है । अति प्राचीन काल से लेकर आज तक के हिंदू वास्तु-निर्माण के पूर्ववर्ती विवरण के पश्चात् अब मुस्लिम वास्तुकला पर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा ।

मुस्लिम वास्तु :-

ईस्वी सन की तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग से हमारे देश का संबंध एक नये प्रकार के शासन के साथ स्थापित हुआ, जो देश की दृष्टि से विदेशी, धर्म की दृष्टि से इतर धर्म को मानने वाले तथा स्वधर्म पर एकान्त निष्ठा रखते थे । इस नवागत शासन-काल में बदलने वाली हमारे देश की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों पर विचार करना प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य नहीं है । यहाँ हम उसके केवल उतने अंश पर विचार करेंगे जो वास्तु कला से संबंधित है । कहना न होगा कि गुलाम-वंशीय शासन के रूप में सर्व प्रथम मुस्लिम राज्य की स्थापना दिल्ली के आस पास उत्तर भारत के छोटे से भाग में हुई थी तथा देश का शेष भाग छोटे मोटे स्वदेशी राज्यों में बंटा हुआ था । इसके अतिरिक्त उस काल से लेकर लगभग सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक उत्तर भारत अनेक मुस्लिम वंशों के उत्थान-पतन के दृश्य देखता आ रहा था । ऐसी अस्थायी परिस्थितियों के बीच शासक-वर्ग के लोग, जब कि स्वयं अपने अस्तित्व की रक्षा में संघर्ष रत हों के द्वारा वास्तु-निर्माण की ओर ध्यान दिया जाना असंभव ही था । दूसरे इस्लाम धर्म मूर्ति-पूजा का कट्टर विरोधी था । अकबर के पूर्ववर्ती अधिकांश मुस्लिम सुल्तानों का दृष्टिकोण मूर्ति-पूजा के संस्थान मंदिरों की प्रतिष्ठा के स्थान पर उनके तोड़ने -फोड़ने का ही था । अतएव इस काल में परंपरागत मंदिर-वास्तु का निरबाध निर्माण होना अथवा उसे प्रोत्साहन मिलना तो दूर की बात थी, अपितु प्राचीन वास्तु बड़े बड़े भवन तथा मंदिर नष्ट-भ्रष्ट ही किए गए ।

उपर्युक्त परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप इस्लामी शासन के प्रारंभिक ढाई सौ वर्षों तक के काल के अंतर्गत मंदिर-वास्तु प्रायः नहीं के बराबर मिलता है। परन्तु कालान्तर में दो विशाल संस्कृतियों के सम्मिलन के द्वारा इस कला को नया मोड़ मिला इसमें संदेह नहीं। मृत्यु के पश्चात प्रतिष्ठित पुरूषों अथवा संत-फकीरों की यादगार में मकबरे इत्यादि बनवाना मुस्लिम समाज में प्रचलित रहा है। इसके अतिरिक्त शासकों की भवन-निर्माण-प्रियता भी इस क्षेत्र में सहायक बनी और उन्होंने अनेक अद्भुत इमारते, मस्जिदें, इमामबाड़े, मकबरे तथा किले बनवाये। डॉ. भगवत शरण उपाध्याय के मतानुसार मुसलमान सुल्तान गजब के निर्माता थे।[१] इन्होंने जो वास्तु-निर्माण करवाया, उसके बनवाने में "खास हाथ हिन्दू शिल्पियों का था। इस देश में मुसलमानों की विशेष कर कला के क्षेत्र में तो कोई अभी अपनी परंपरा न थी, इससे उन्हें हिन्दू कारीगरों पर ही निर्भर करना पड़ा। इसी से शुरू की मुस्लिम इमारतें अधिकाधिक हिन्दू प्रभाव में आई और उनके आकार-प्रकार अधिकाधिक हिन्दू-मंदिरों के भवनों के से हो गये।"[२] मुस्लिम वास्तु-निर्माण के क्षेत्र में प्रथम मुसलमान सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा बनवाई हुई कुतुबमीनार का सबसे पहले उल्लेख किया जा सकता है। दिल्ली स्थित पृथ्वीराज चौहान के राजमहल को तोड़कर उसके मलवे द्वारा इस मीनार के बनवाने का कार्य आरंभ किया गया था और उसकी मृत्यु के पश्चात इस अधूरे कार्य की पूर्ति उसके उतराधिकारी सुल्तान अल्तमश द्वारा हुई। यह उल्लेखनीय है कि इसमें हिन्दू-प्रभाव झलकने के साथ साथ उसके पूर्ववर्ती चिन्ह भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, परन्तु निर्माण की विशालता एवं भव्यता के कारण इसकी

---

[१] डॉ. भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, १४ वा अध्याय, पृष्ठ १८३ शीर्षक : कला

[२] वहीं पृष्ठ १८४, शीर्षक वहीं.

गणना भारत ही नहीं, संसार की प्रसिद्ध इमारतों में की जाती है । प्रारंभिक मुस्लिम वास्तु निर्माण के क्षेत्र में हिन्दू-प्रभाव की स्वाभाविक अनुकूलता के संबंध में ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके ज्वलंत उदाहरण दिल्ली की कुतुब मस्जिद तथा कुतुब मीनार, जौनपुर, बंगाल, मांडू (मालवा) फिरोज तुगलक द्वारा बनवाई हुई सैयद मसूद गाजी की दरगाह तथा गुजरात के भवन हैं । आगे चलकर मुस्लीम वास्तु के अच्छे उदाहरण तुगलक वंशीय शासन-काल में मिलते हैं । इस समय तक मुस्लिम शासन उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण के भागों तक भी पहुँच चुका था । कहना न होगा कि ये प्रदेश कभी तो दिल्ली-सुल्तानों के आधीन रहते और कभी प्रादेशिक अधिकारियों अथवा प्रान्त-पतियों द्वारा प्रतिष्ठित स्वतंत्र राज्य बन जाते थे । जहाँतक शासनगत सामान्य प्रवृत्ति की बात है उसमें कोई विशेष अंतर न आता था, परन्तु नये प्रदेश की नव-निर्मित राजधानियों में वास्तु-निर्माण के लिये अनुकूल अवसर स्वभावतः आ उपस्थित होता था । दक्षिण के बहमनी, गुजरात, मांडू के विविध वंशीय शासक जोनपूर में सूरी वंश के शासन का होना आदि परिस्थितियाँ अनेक प्रदेशों को कला-मंडित का गौरव
कहना न होगा कि इन समस्त निर्माणों में तत्संत्र बना आदिम निवासी
का प्रमुख हाथ रहा है । अतएव इस युग का जा आदि पर प्रकाश
स्थानीय विशेषताओं से अनुप्राणित होती हुई परम ल के पश्चात आर्यों
इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्माण में परंप है, ाव है ।[1] इतिहासकार
को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन देकर मुस्लिम व थ पर्व द कालीन मूर्तियाँ कला
प्राप्त कर लिया है । एक इतिहास मर्म संबं राकाष्ठा से कराती हैं ।[2]
"भारत के बाहर के किसी देश में इत व
इमारतें न बनीं, जितनी इस देश ही नी सभ्यता, पृष्ठ १८.
यह था कि इस देश में अपनी प्राचीन दत-हि. सा. का. वृ. इति., चतुर्थ खंड—
वास्तुकला की परंपरा थी, गवतशरण उपाध्याय पृष्ठ ६१२ मूर्तिकला

अलाउद्दीन, फिरोजशाह तुगलक, जोनपुर, बंगाल मालवा, गुजरात और दक्षिण के सुल्तानों को भरपूर हुआ।"[१]

मुगल–सम्राटों का स्थान इस क्षेत्र में पहले के शासकों की अपेक्षाकृत अधिक महत्व का है। हुमायूं तथा अकबर के शासन-कालों के बीच प्रतिष्ठित सूरीवंश के शासकों और विशेषकर शेरशाह सूरी द्वारा संपन्न हुआ वास्तु-निर्माण अत्यंत महत्व का है। इसके सुंदर उदाहरण जौनपूर की अटाला मस्जिद, सहसराम का शेरशाह का मकबरा, तथा जोनपुर का किला आदि प्रसिद्ध इमारतों में प्राप्त होते हैं। मुगल काल में आकर भारतीय भवन-निर्माण कला वैदेशिक कला-परंपराओं के संपर्क से और भी निखर उठी, और इतना ही नहीं अपितु वास्तुकला के क्षेत्र में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ।

"मुगल ईरान के जरिये चीन की परंपरा लेकर इस देश में उतरे थे और उन्होंने कला को सभी प्रकार से उन्नत किया।"[२] इतिहासकार डॉ. मजूमदार ने उनके वास्तुशिल्प को 'मुगल' अथवा 'भारत-ईरानी' एबक द्वारा बनवाई जो संभवतः उनकी उपर्युक्त विशेषताओं के आधार सकता है। दिल्ली हि है। मुगल-वास्तु के निर्माण का आरंभ वस्तुतः उसके मलवे द्वारा इस मी से ही समझना चाहिये। उसके पूर्ववर्ती शासक था और उसकी मृत्यु शासन एवं शक्ति की प्रतिष्ठा में निरंतर लगे उत्तराधिकारी सुल्तान अल्तमा में यथेष्ट ध्यान दे ही न सकते थे क्योंकि हिन्दू-प्रभाव झलकने के साथ समिलते है कि ये दोनों ही शासक कुछ कम पड़ते हैं, परन्तु निर्माण की . काल में एक तो विशाल साम्राज्य की

[१] डॉ. भगवतशरण उपाध्याय : स.सांस्कृतिक भारत १४ वा अध्याय पृष्ठ १८३ शीर्षक : कला
[२] वहीं पृष्ठ १८४, शीर्षक वही.

स्थापना हुई और दूसरे शान्ति तथा सुव्यवस्था के साथ साथ शासन में भी स्थिरता आई। इस अनुकूल परिस्थिति ने मुगल सम्राट की मूलभूत कलात्मक अभिरूचि को न केवल भवन–निर्माण के क्षेत्र में सहायक बनी अपितु सभी प्रकार की कलाओं के व्यापक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। मुगल कालीन वास्तु–निर्माण के तीन मुख्य केन्द्र थे – दिल्ली, आगरा और फतेहपुर सीकरी। दिल्ली और आगरा के किले भव्यता तथा सुदृढ़ता दोनों ही दृष्टियों से अनुपम हैं। अकबर के शासन ने फतेहपुर सीकरी को सर्वाधिक गौरवान्वित किया है। वहाँ पर उसके द्वारा बनवाई गई दीवान–खास, दीवान-आम, पंचमहल, बुलंद दरवाजा आदि इमारतें भारतीय इतिहास के अंतर्गत चिरस्मरणीय स्थान बनाये हुई हैं। हुमायूं का मकबरा जो उसने दिल्ली में बनवाया था वह ताजमहल के वास्तु–शिल्प का सुकुमार नमूना है।[1]

मुगल वास्तुकला का सबसे महान निर्माता वास्तव में शाहजहाँ था। उसने थोड़े ही वर्षों के बीच एक–दो नहीं सैकड़ो ऐसी इमारतें बनवाईं
जिनमें उच्चकोटि का वास्तु–शिल्प मिलता है। इस बा[illegible] ...तक
निर्मित ताजमहाल संसार की सर्वश्रेष्ठ इमारत का गौरव ...ता है। यहाँ
...आदिम निवासी
आज भी बड़े बड़े कला-विदों के आश्चर्य का कारण बना ...आदि पर प्रकाश
द्वारा बनवाई गई मुख्य इमारतें दिल्ली का किला ज... ...ल के पश्चात आर्यों
मस्जिद आदि हैं। इन वास्तु–संस्थानों में संगमरम... ...ाव है।[1] इतिहासकार
और काले पत्थरों का उपयोग किया गया है, ि... ...द कालीन मूर्तियाँ कला
और तराश कर जाली बनाने के साथ साथ पच्चे... ...राकाष्ठा से कराती हैं।[2]
ही सुंदर एवं अद्वितीय हुआ है। इस संबं...
अनुमान कि शाहजहाँ के काल में मुगल व...
पर पहुँच चुकी थी सर्वथा यथार्थ हो... ...नी सभ्यता, पृष्ठ १८.

...दत–हि. सा का. वृ. इति., चतुर्थखंड–

[1] वही – पृष्ठ १९३. ...गवतशरण उपाध्याय पृष्ठ ६१२ मूर्तिकला

नहीं कि इस शासक ने अपने समय में उपलब्ध सभी संभव उपायों तथा कलात्मक उपकरणों का उपयोग किया होगा। शाहजहाँ के बाद मुगल वास्तु के उतने उल्लेखनीय उदाहरण नहीं प्राप्त होते, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उसका निर्माण सर्वथा बंद हो गया हो। इतना अवश्य है कि पश्चात्‌कालीन मुगल सुल्तानों के शासनकाल में उसके ह्रासोन्मुख होने के चिन्ह सुस्पष्ट दिखते हैं। औरंगजेब की अभिरुचि कलाओं के क्षेत्र में कोई विशेष नहीं दिखती, परन्तु औरंगाबाद में उसके द्वारा बनवाया हुआ 'बीबी का रोजा' वास्तु का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है जिसे काका कालेलकर नें 'दक्षिण का ताजमहल' तक का गौरव प्रदान किया है। कहना न होगा कि इसके निर्माण का आदर्श आगरे का ताजमहल है जिसके साथ उसके निर्माता की सादगी के प्रति प्रेम संगुम्फित हो गया है।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात मुगल साम्राज्य के छिन्न-छिन्न हो हो जाने फल स्वरूप दिल्ली तथा आगरे की वह शान-शौकत न रही जो
ड। वैभव में जगमगाते दिनों में उसके पहले थी। कालान्तर में हमारे देश
एवँके द्वारा ै मान सुल्तानों तथा नवाबों के छोटे बड़ें राज्य स्थापित हो गये
सकता है। दिल वास्तु निर्माण की दृष्टि से अवध के नवाबों तथा बंगाल के
उसके मलवे द्वारा ै म विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। अवध के
था और उसकी म ी राजधानी लखनऊ को सब प्रकार की कलाओं से
उतराधिकारी सुल्तान ै किया। यहाँ बने हुये - छोटा और बड़ा इमामबाड़ा,
हिन्दू-प्रभाव झलकने के स छतरमंजिल आदि भवन उनके निर्माण के भव्यतम
पड़ते हैं, परन्तु निर्माण । न होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना होने
में छोटा - बड़ा वास्तु निर्माण बहुत बड़ी संख्या
विवरण देना कठिन ही होगा। संक्षेप में यह
ता है कि भारतीय वास्तुकला के क्षेत्र में
ग। वास्तु-निर्माण कलाकृतियों का एक

[1] डॉ. भगवतशरण उपाध्याय :
पृष्ठ १८३ शीर्षक : कला
[2] वहीं पृष्ठ १८४, शीर्षक वही.

२. मूर्तिकला

कलापूर्ण भवनों की भाँति भारतीय मूर्तिकला का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है, जितना कि अब तक ज्ञात यहाँ का इतिहास। तत्संबंधी विवरण द्वारा हमें यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस कला के विकास के पीछे धार्मिक प्रेरणा काम करती आई है। भारत के प्रागैतिहासिक काल के हड़प्पा और मोहन-जोदारो के अवशेषोंकी जो खुदाई हुई है उसमें वास्तुकला की अपेक्षाकृत मूर्तिकला के अधिक उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। कुकुद वाला बैल के अतिरिक्त प्राप्त अनेक मूर्तियों मे सिरकला की कुशलता का उत्कृष्ट प्रमाण मिलता है। यहाँ शिवलिंग जैसी अनेक लिंग-मूर्तियाँ मिली हैं जो यहाँ के आदिम निवासी अनार्यों की सांस्कृतिक विशेषताओं तथा उपासना आदि पर प्रकाश डालती हैं। इतिहासकारों का मत है कि वैदिक काल के पश्चात आर्यों में शिवलिंग-पूजा इसी अनार्य संस्कृति का प्रभाव है।[1] इतिहासकार डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के मतानुसार ये आदि कालीन मूर्तियाँ कला के शैशव से हमारा परिचय नहीं करातीं, उसकी पराकाष्ठा से कराती हैं।[2]

---

[1] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्थान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ १८.

[2] डॉ. राजबली पांडे द्वारा संपादित-हि. सा. का. बृ. इति., चतुर्थ खंड-द्वितीय अध्याय, लेखक : डॉ. भगवतशरण उपाध्याय पृष्ठ ६१२ मूर्तिकला

इसके अतिरिक्त वेश्या की एक छोटी सी नग्न मूर्ति भी यहाँ मिली है।[१] इन दो स्थानों के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक काल के अन्य प्राचीन स्थानों का भी पता चला है, जिनकी खोज में पुरातत्व विभाग यत्नशिल है। वहा अभी हाल ही में प्रारंभ होने वाली खुदाई के संबंध में हमारा अनुमान है कि निकट भविष्य में संभवत: कुछ अन्य सामग्री भी प्राप्त हो जाय तो तत्कालीन मूर्तिकला से हमारा परिचय करा सके।

वैदिक सभ्यता का अध्ययन करने से पता चलता है कि वेद में जिन देवताओं का वर्णन आया है, वे प्राय: सभी प्राकृतिक शक्तियों के रूप में थे जिनकी प्रतीकोपासना मंत्रों के गान तथा यज्ञ आदि के द्वारा होती थी। उस कालकी मूर्तियों का कोई न तो वर्णन मिलता है और न कोई साहित्यिक निर्देश ही। इसके पश्चात रामायण, महाभारत तथा बौद्ध-साहित्य में अनेक निर्देश मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण के विवरण द्वारा ज्ञात होता है कि अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति के लिये महाराज रामचंद्र ने न चाहते हुये भी भगवती सीता की स्वर्ण–मूर्ति का निर्माण करवाया था। इसी प्रकार महाभारत के एकलव्य ने गुरू द्रोणाचार्य की मूर्ति की प्रतिष्ठा करके धनुर्विद्या का अभ्यास किया था। परन्तु इन ग्रंथों में हमें ऐसे उदाहरण नहीं प्राप्त होते जिनके आधार पर तत्कालीन मूर्तिकला के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता हो। अतएव प्राप्त सामग्री के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय मूर्तिकलाका क्रमबद्ध इतिहास वास्तुकला के बाद का है। फिर भी इसके लगभग ढाई हजार वर्षों के लम्बे इतिहास ने अनेक युग देखें हैं जिनमें उसके बदलते हुये बाह्य लक्षणों ने विविध मूर्तिकला शैलियों को जन्म दिया है।

---

[१] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ १६, १७.

मौर्य काल के पूर्व की कला :

भारतीय-कला के इतिहास में मौर्य वंशीय शासन काल अत्यंत महत्व का है, जिसमें हमें वैभव के साथ साथ उसके निखरे हुये प्रौढ़तम रूप के दर्शन होते हैं। इसको पूर्वकालीन मूर्तिकला के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। इस युग में मूर्ति निर्माण का प्रथम उदाहरण लौरियानंदन गढ़–स्तम्भ की चोटी पर बनी हुई हाथी तथा शेर आदि पशु–मूर्तियों का मिलता है। डॉ. बेनीप्रसाद के शब्दों में इनका "जीवन-सादृश्य उतना ही आश्चर्यजनक है जितना कि निर्माण का आदर्श और चातुर्य।"[१] इसके अतिरिक्त परखम नामक ग्राम में प्राप्त हुई यक्ष की विशाल मूर्तियों का भी उदाहरण मिलता है जो मूर्तिकला के मौर्य पूर्व कालीन इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। परखम में प्राप्त कुबेर की मूर्ति मथुरा संग्रहालय में रखी हुई है, जिसे देखने से पता चलता है कि उस युग तक मूर्ति गढ़ने वाले कुशल शिल्पियों के साथ साथ कड़ी से कड़ी चट्टानों को बड़ी कुशलतापूर्वक काट काट उनमें जीवन फूंक देने के लिये तेज से तेज यंत्रों का निर्माण हो चुका था। इनके अतिरिक्त अबतक की खोजपूर्ण सूचनाओं के आधार पर इन मूर्तियों के ग्यारह उदाहरण मिलते हैं[२] :–

१. परखम–यक्ष–मूर्ति। इससे संलग्न शिलालेख में कुबेर के सेनापति मणिभद्र का नाम खुदा हुआ है।

२. वड़ोदा – यक्ष - मूर्ति।

३. मथुरा जिले के एक ग्राम में प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति, जो आज मंशादेवी के नाम से पूजी जाती है। इसके साथ के शिलालेख में

---

[१] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्थान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २३०.

[२] डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सिविलिजेशन पृष्ठ ३१५, ३१६.

इसका नाम 'यक्षी-लयावा', निर्माता का नाम 'नाक' तथा उसके कला–गुरू का नाम 'कुनिक' खुदा हुआ है।

४. मई, सन १९३३ में प्राप्त एक अन्य यक्ष मूर्ति : मथुरा।

५. पटना - यक्ष मूर्ति जो अब भारतीय संग्रहालय में संग्रहीत है। शिलालेख में इसका नाम "भगवान अक्षतनिविक" (कुबेर) उत्कीर्ण है।

६. पटना की एक अन्य यक्ष-मूर्ति जो भारतीय संग्रहालय में वर्तमान है। संलग्न शिलालेख में इसका नाम –"यक्ष सर्वत्र नंदी" खुदा हुआ है।

७. दीदारगंज (पटना) में प्राप्त चँवर डुलाने वाली नारी के रूप में यक्ष की मूर्ति।

८. पवय (ग्वालियर) में प्राप्त 'मणिभद्र यक्ष' (कुबेर के सेनापति) की मूर्ति।

९. ेसनगर की यक्षिणी की दो मर्तियाँ। तथा

१०. कोसम में प्राप्त टूटी हुई यक्ष-मूर्ति के टुकड़े।

उपर्युक्त मूर्तियों की बनावट लगभग एक सी है और भारतीय मूर्तिकला के वे प्रारंभिक उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ साथ जन-सामान्य की कला से हमारा परिचय कराती हैं। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार ये तत्संबंधी भारतीय जन समाज की धार्मिक मान्यताओं का भी चित्र उपस्थित करतीं हैं, जो कि यक्ष यक्षियों अथवा गंधर्व-अप्सराओं की पूजा-उपासना किया करते थे।[1] सक्षेप में, इस युग की मूर्तियाँ दो

[1] वही – पृष्ठ ३१६.

प्रकार की है :– एक तो मट्टी की और दूसरे पत्थर की। इन मूर्तियों में मूर्तिकला के विकास के प्राथमिक लक्षण मिलते हैं, उनका प्रौढ़तम रूप नहीं।

मौर्यकाल :

वास्तुकला के इतिहास में हम देख चुके हैं कि मौर्य वंश का शासन कलाओं के सर्वांगीण विकास का रहा है। मौर्य सम्राट अशोक ने जो स्तंभ बनवाये थे उनमें वास्तुकला के साथ साथ पशुओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं जिनका "रूपायन, अवयवीय यथार्थता, आकर्षण, सौन्दर्य-सभी अभूतपूर्व है।"[१] अशोक के सारनाथ वाले स्तंभ की चोटी पर एक दूसरे की ओर पीठ किये चार शेरों की मूर्तियाँ तथा उनके बीच में बतीस तीलियों वाला एक एक धर्मचक्र है। इन चारो धर्मचक्रों के बीच में एक शेर, एक हाथी, एक बैल और एक घोड़ा है। इन मूर्तियों की मुख्य विशेषता पशुओं का सुडौल आकार, सफाई तथा प्रत्येक निर्माण में निर्माण—कौशल की सू मता का दर्शन होता है। सारनाथ स्तंभ के अंकित धर्मचक्र प्रवर्तन के प्रतिक - चार पहिये अशोक-चक्र के नाम से हमारे राष्ट्र-ध्वज के प्रमुख राज-चिन्ह हैं। जिसकी चार सिंह-मूर्तियों को भी भारतीय गण-तंत्र ने बड़े गौरव के साथ अपनाया है। अशोक के विषय में ऐसी जनश्रुति है कि उसने चौरासी हजार विशाल बौद्ध धर्म के स्तूपों का निर्माण करवाया था। इन स्तूपों का वास्तु-निर्माण की दृष्टि से भले ही महत्व हो परन्तु मूर्ति कला की दृष्टि से केवल दो-भारहुत और साँची के स्तूपों की मूर्तिकला ही उल्लेखनीय है। इन स्तूपों के तोरणों पर बुद्ध जी के जीवन से संबंधित कथाओं का निरूपण करने वाली अत्यंत सुन्दर मूर्तियाँ हैं। वास्तुकला के क्षेत्र में संसार को

---

[१] हि. सा का. वृ. इति. ६१४।

आश्चर्य–चकित कर देने वाली गुफाओं के संबंध में पिछले पृष्ठों में यह निर्देश किया जा चुका है कि भिक्षुकों तथा सन्यासियों के लिये आवास, स्थान तथा देव–मंदिरों के निर्माण के लिये पहाड़ों की बड़ी बड़ी चट्टानों को खोखला करके भवन–निर्माण की प्रथा हमारे देश में अति प्राचीन काल से रही है। कालान्तर में इन गुफाओं को सुन्दर चित्रों तथा मूर्तियों से अलंकृत किया जाने लगा। गया से सोलह मील उत्तर में अशोक द्वारा बनवाई हुई सुदाम गुफाओं की मूर्तियों की संख्या कम है परन्तु उसी के बराबर पहाड़ा पर लोमश ऋषि के तोरण या दरवाजे पर बनी हुई कुछ मूर्तियाँ उत्कृष्ट मूर्तिकला का परिचय देती हैं।[1] इसी प्रकार बुद्धजी के जीवन से बंसंधीत दो प्रसिद्ध स्थानों - लुम्बिनी और कुशीनगर – में स्तूप–स्तंभों पर की मूर्तियों में मौर्य–कला के दर्शन होते हैं।

उपर्युक्त विवरण द्वारा प्रकट है कि अशोक के शासन काल में मूर्ति कला का यथेष्ट विकास आरंभ हो चुका था। उसकी मृत्यु के पश्चात उसके पौत्र दशरथ ने पहाड़ी चट्टानों पर अनेक गुफायें खुदवा कर उन्हें भव्य मूर्तियों तथा चित्रों से अलंकृत किया। इसी प्रकार ईस्वी पूर्व की तीसरी शताब्दी में निर्मित अमरावती स्तूप के ध्वंसावशेष से तत्कालीन मूर्तियों का पता चलता है। इन मूर्तियों में पशुओं, देवताओं तथा मनुष्यों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के चित्र अंकित किये गये हैं जो तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। दक्षिण में द्रविड़-मूर्तिकला के भी कतिपय उदाहरण मिलते हैं जिनमें से मद्रास प्रदेश के गंतूर जिले में प्राप्त ‘भट्टिप्रोलू’ स्तूप जो तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्वका है, में चारों ओर बनी हुई संगमरमर की जाली में अनेक मूर्तियों का उल्लेख मिलता है।[2] यह मूर्तियाँ उन्नीसवीं शती में नष्ट

[1] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २३१.

[2] हेवल : कृत ऐन्सियेन्ट इंडियन आर्किटेक्चर।

हो ही गई थीं, परन्तु इसी जिले के जग्यपेट तथा वेटबोलू में इसी समय के अन्य स्तूप में बची हुई कुछ मूर्तियाँ मिलती हैं।[1] इनका निर्माण-कौशल भारहुत अथवा पश्चिम के गुफा–मंदिरों की भाँति का है। विदिशा के निकटवर्ती बेस नगर नामक स्थान में प्राप्त यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके भीतर सात फीट ऊँची ्क तेलीन की भी एक और मूर्ति मिली है जिसमें स्वाभाविकता की विशेषता के साथ साथ निर्माण काल का निश्चय अभी तक नहीं हो पाया है। डॉ. बेनीप्रसाद ने इसका निर्माण काल इसी युग में अनुमानित किया है।[2] अशोक पौत्र दशरथ के समय में उत्कीर्ण की गई कार्ली की गुफा में चोटी के हिस्से के पिछले भाग पर बड़ी नक्काशी के अतिरिक्त दो हाथी घुटने टेकें एक पुरूष और एक स्त्री है। इनके पीछे घोड़ों तथा चीतों की मूर्तियाँ हैं जिन पर एक एक आदमी बैठा हुआ है। यहाँ की मूर्तिकला उपर्युक्त अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्टतर है।

मौर्य कालीन सभी प्रस्तर मूर्तियों में सजीवता और सफाई अभूतपूर्व है। इन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे पत्थर के स्थान पर किसी धातु को साँचे में ढाल कर बनाई गई हों। पत्थरों को घर्षण तथा लेप द्वारा इतना चिकना तथा चमकीला बना दिया गया है कि आज तक वर्तमान उनकी भव्यता कला-विदों को आश्चर्य में डाल देती है। अशोक द्वारा निर्मित स्तंभों की पशु–मूर्तियाँ डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के मतानुसार ईरान और असुर देश की पशु – परंपरा में हैं।[3] अंतिम

---

[1] हेवल : इंडियन स्कल्प्चर एण्ड पेंटिंग।

[2] डॉ. बेनीप्रसाद : हिदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २३१।

[3] हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास : प्रथम भाग : चतुर्थ खण्ड – ले. - डॉ. उपाध्याय पृष्ठ ६१५.

मौर्य सम्राट वृहद्रथ की मृत्युके पश्चात (१८४ ई. पू.) मूर्तिकला के आकार तथा शैली में परिवर्तन हुआ और एक नवीन कला-शैली का जन्म हुआ। इसी प्रकार मौर्य काल की मूर्ति कला उस बंश के शासन की समाप्ति के साथ ही आगामी शुंगकालीन कला के लिये स्थान छोड़कर चली जाती है।

शुंग तथा शक–कुशाण युग – (ई. पू. द्वितीय शताब्दी से तृतीय शताब्दी ई. तक)

मौर्य काल के पश्चात का भारतीय इतिहास राजनैतिक दृष्टिकोण से अनेक वंशो के रक्त–रंजित उत्थान-पतन से परिपूर्ण रहा है। शुंग-वंश की प्रतिष्ठा के साथ ही ब्राह्मण धर्म पुनः जाग्रत हो उठता है। हाथी गुफा शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है कि इस समय अनेक छोटे मोटे राजा थे और उनके द्वारा यहाँ संघशासन प्रथा प्रचलित हुई थी। इसके लगभग एक सौ दस वर्ष पश्चात पाटलिपुत्र के सिहासन पर कण्व वंश का राजा सिंहासनारूढ़ हुआ। विशाल मौर्य साम्राज्य पहले ही से टूट चला था, इस काल में आकर कलिंग प्रदेश भी स्वतंत्र हो गया। इस अस्तव्यस्त परिस्थिति के बीच ग्रीकों को यहाँ अपनी शक्ति जमाने का अवसर मिल गया और पुष्यमित्र शुंग के शासन काल को छोड़कर लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक पश्चिमी भारत गंगा से लेकर काबुल तक ग्रीक यवनों के ही अधिकार में बना रहा। इसके कारण शुंग कला तो पूर्ण रूप से भारतीय रही, परन्तु कालान्तर में उत्तर-पश्चिम भारत में शकों तथा कुशाणों की शक्ति की प्रतिष्ठा ने मूर्ति कला के क्षेत्र में विविध कला शैलियों को जन्म दिया। मौर्य काल के पश्चात के कलात्मक उपकरणों में सबसे पहले समय समय पर बनी हुई खंडगिरि, उदयगिरि तथा नीलगिरी के पहाड़ीयों पर खोदी गई जैन गुफायें आती हैं। उदयगिरि की जय विजय गुफा में छः फीट ऊँची एक स्त्री मूर्ति है, जो

इस्वी पूर्व की द्वितीय शताब्दी की है ।[1] यह स्त्री दाहिने पैर पर बल दिये खड़ी है, बाँयाँ पैर पीछे की ओर जाकर झुका हुआ है जिससे केवल उसका अँगूठा ही भूमि को छू रहा है । सिर पर ऊँची टोपी है, कमर के नीचे जाँघिया है, तथा शरीर का शेष भाग खुला हुआ है । मूर्ति की स्वाभाविकता अत्यंत चिताकर्षक है । उसकी कलात्मक उत्कृष्टता का अनुमान केवल इसी बात से लगाना पर्याप्त होगा कि आज यद्यपि उसका आकार बिगड़ गया है, तथापि इस समय भी उसका प्रसाद गुण सुस्पष्ट दिखाई देता है । इसी प्रकार रानी गफा में जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का एक जुलूस पत्थरों पर अंकित है जिसमें उच्चकोटि की कला का निखार है । मथुरा संग्रहालय में संग्रहीत ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के जैन स्तूप के अवशेष महोली गाँव में प्राप्त हुये थे । यह स्तूप लोनसोमिका नामक एक गणिका ने महावीर स्वामी को पूजा के लिये बनवाया था जो बौद्ध स्तूपों से बिलकुल मिलता-जुलता है । मूर्तियाँ तथा उनकी नक्काशी वैसी ही हैं ।

उपर्युक्त जैन मंदिरों के पश्चात हम शुंग कालीन कला की ओर आते हैं । इस कला पर विचार करते समय सर्व प्रथम यह दृष्टव्य है कि इस काल में पत्थरों की अपेक्षाकृत मिट्टी में कला का अंकन अधिक किया गया है ।[2] जिसका पता आज बड़े बड़े टीलों के ढेर के नीचे पड़े हुये मिट्टी के ठीकरों द्वारा चलता है । इस कला की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुये डॉ. उपाध्याय ने लिखा है कि यह "इस देश की सिन्धु की सभ्यता के बाद पहली राष्ट्रीय कला थी । प्रतीक स्थिर हो गये, रसात्मक सौन्दर्य के मान स्थिर कर लिये गये, अनायास नहीं सचेत

---

[1] डॉ. बेनीप्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २८०.

[2] हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास : पृष्ठ ६१८ चतुर्थ खण्ड - द्वितीय अध्याय ले.- ज भगवतशरण उपाध्याय.

रूप से। सौन्दर्य अवयवीय न रहा। अशोक कालीन कला की प्राकृतिकता छोड़ दी गई। यथार्थ के अनुकरण से कलावंत विरत हुआ। उसकी मूर्तियाँ तनिक ठिगनी होने लगीं, सामने से कुछ चिपटी। कोरकर सर्वतोभद्रिका मूर्ति बनाने की अपेक्षा अधिकतर मूर्तियाँ उभारकर छंद परंपरा में, कथा प्रसंग में, अर्द्धचित्र शैली में समायित होने लगीं। वैयक्तिकता सामाजिकता में बदल गई। जातक आदि कथायें पत्थरों पर उभर आईं, व्यक्ति उन कथाओं के अंग बन गये। यक्ष-यक्षणियों की उभरी अकेली मूर्तियों के नीचे उनके निजी नाम लिखे होने पर भी वे अकेली न थीं, कथा परंपरा की अवयव थीं। मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रतीकों की जैसे बाढ़ आ गई।.........उभरी आकृतियाँ सजीव हो उठी हैं, गज, अश्व, कपि, मृग जैसे मानव की भाषा बोलते हैं, उसके भवसागर में डूबते उतराते हैं।"[1]

लेखक द्वारा व्यक्त की गईं उपर्युक्त विशेषताओं की पृष्ठभूमि में शुंग वंशीय सम्राटों की प्रवृति तथा रूचि कार्यशील रही है। प्रारंभ में ही यह कहा जा चुका है कि शुंग शासक ब्राह्मण धर्म के कट्टर समर्थक थे अतएव कला की शैली में परिवर्तन करने की उनकी उपर्युक्त चेष्टा स्वाभाविक ही थी। यही कारण है कि उन्होंने मौर्य काल के प्रायः समस्त कलात्मक उपकरणों में परिवर्तन करके एक नई कलाशैली की प्रतिष्ठा की है। यह उल्लेखनीय है कि शुंग काल की मूर्तियाँ प्रायः उन्हीं स्थानों पर प्रतिष्ठित की गई हैं जहाँ मौर्य काल में अनेक स्तूप, तोरण आदि का वास्तु-निर्माण हुआ था। ये मूर्तियाँ भरहुत, तथा साँची के स्तूपों के तोरणों तथा द्वारस्तम्भों पर अंकित हुईं हैं। इसके अतिरिक्त श्रावस्ती, भीटा, कोशाम्बी, मथुरा, बोधगया तथा पाटलिपुत्र

---

[1] वही – पृष्ठ ६१६.

आदि स्थानों पर भी शुंगकला के केन्द्रों का पता चलता है।[1]

इस बीच ग्रीक, शकों तथा कुषाणों की शक्ति की प्रतिष्ठा से मूर्तिकला के क्षेत्र में नवीन अध्याय का श्रीगणेश हुआ। इनके कारण उत्तर-पश्चिमी भारत में 'गांधार-शैली' का विकास हुआ और कालान्तर में भारत के विविध प्रदेशों में भी कुषाण कला की प्रतिष्ठा हुई, जिसके अन्य तीन प्रमुख केन्द्र मथुरा, सारनाथ तथा अमरावती थे। इस प्रकार स्थानीय एवं सांस्कृतिक प्रभावों के परिणाम स्वरूप इस युग की कला का सृजन चार मुख्य कला-शैलियों में आरंभ हो गया। इनके नाम तत्संबंधी स्थानों के आधार पर क्रमशः गांधार, मथुरा, सारनाथ और अमरावती पड़े जिन पर संक्षेप में अलग अलग विचार कर लेना आवश्यक होगा।

गांधार-शैली :

इसकी पृष्ठभूमि के संदर्भ में हमें यह दृष्टिगत कर लेना आवश्यक होगा कि भारतेतर प्राचीन सभ्यताओं में ग्रीक सभ्यता अत्यंत प्रभावशाली गिनी जाती है। ग्रीकों ने अति प्राचीन काल में पश्चिमी एशीया में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। कालान्तर में जब ग्रीकों का संबंध भारत से आया तो वे क्रमशः भारतीय तत्वज्ञान के संपर्क में आकर परस्पर प्रभावित हुये। तत्वज्ञान के अतिरिक्त ग्रीकों ने ललित-कलाओं के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक उन्नति की थी। डॉ. बेनीप्रसाद के शब्दों में "वह मूर्तिकला में ऐसे निपुण थे कि जहाँ तक शारीरिक सौन्दर्य और सफाई का संबंध है आजतक कोई उनकी बराबरी नहीं कर सका है। ईस्वी पूर्व की पाँचवीं सदी में फीडो ने जूस देवता की जो

---

[1] वही पृष्ठ ६१७.

विशाल मूर्ति बनाई थी वह वास्तव में अनुपम है ।"[1] वर्तमान अफगानिस्तान का प्राचीन नाम 'गांधार' रहा है, जिसका आज का मुख्य स्थान 'कंदहार' का नाम उसी का रूपान्तर प्रतीत होता है । कहना न होगा कि महाभारत की राजमाता गांधारी का नाम संभवतः इस प्रदेश की होने के कारण पड़ा था । एक समय यह हिन्दू सभ्यता का मुख्य केन्द्र था, परन्तु उसकी स्थिती इस प्रकार की रही है कि जिसके कारण यह प्रदेश पश्चिमी एशीया की राजनैतिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक आदि किसी भी परिस्थिति से सर्वप्रथम प्रभावित हो सकता था । फलतः अपने स्थान से दक्षिणपूर्व की ओर बढ़ने वाले ग्रीकों के प्रभाव में यह प्रदेश सर्वप्रथम आया जिसका पश्चिमी भारत पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था । उन दिनों बौद्ध धर्म के प्रभाव का विस्तार एशिया के विविध प्रदेशों तक हो चुका था । मौर्यों तथा उनके पश्चात्कालीन बौद्ध-मूर्तिकला के संबंध में पिछले पृष्ठों में भलीभांति विचार किया जा चुका है । भारतीय मूर्तिकला की प्रमुख विशेषता – उसमें भाव विधानका कुशल-अंकन-ग्रीक कला के सुगठन के साथ घुलमिल कर गांधार शैली में निखर उठी ।

इस प्रकार संक्षेप में, गांधार प्रदेश में (पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश, कबीलाई भूखंड से तक्षशिला तक) ग्रीक कलाकारों नें अपनी 'ग्रीक शैली' जिसका कि संकेत ऊपर किया जा चुका है से जिन भारतीय विषयों, अभिप्रायों एवं प्रतीकों का कलात्मक रूपायन किया उन्हें हम गांधार शैली की देन मानते हैं । "इस शैली में ग्रीक-तक्षक और कलावंत का योग भारतीय विषयों में होता है । इसी से इस कला को 'ग्रीक-बौद्ध', 'ग्रीक-रोमी' आदि अनेक संज्ञायें दी गई है । पर इसका भौगोलिक नाम 'गांधार शैली' ही विशेष प्रचलित हुआ ।"[2]

[1] हिदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २१८.
[2] हि. सा का. वृ. इति. पृष्ठ ६२१, ६२२ शीर्षक–कलायें : मूर्तिकला, लेखक : डॉ. भगवतशरण उपाध्याय.

गांधार शैली भारत से बाहर पूर्वी तुर्किस्तान, मंगोलिया, कोरिया और जापान की यथार्थवादी शैली की जननी कही जाती है। हवेनसांग नामक यात्री जो कि हर्षवर्द्धन के शासन-काल में यहाँ आया था, के यात्रा विवरण द्वारा ज्ञात होता है कि गांधार प्रदेश के अधिकांश विहार ध्वस्त हो चुके थे। गांधार के उन भग्नावशेषों से उपलब्ध हुई हजारों मूर्तियाँ आज पेशावर, कलकता, पेरिस, लंदन तथा बर्लिन के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं, परन्तु उन पर निर्माण–तिथि का अंकन न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका निर्माण का निश्चित काल क्या रहा होगा?

गांधार मूर्तिकला के हजारों उदाहरण जो उत्तर-पश्चिम प्रांत और वर्तमान अफगानिस्तान से जमा हो चुके हैं, वे कई शताब्दियों के हैं। इस शैली की मूर्तियाँ काबुल और खुत्तन तक मिली हैं। इस कला-शैली के उद्भव के संबंध में प्राप्त सिक्कों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि सीथिया के राजकुमार ऐज़ेज ने सर्वप्रथम यूनानी–बौद्ध कला को जन्म दिया था।[1] गांधार शैली को अनेक मूर्तियाँ कनिष्क के बहुत पूर्व की प्राप्त होते हुये भी इतिहासकारों ने इसके विकास का प्रमुख श्रेय कुशाण सम्राट कनिष्क को दिया है।[2] क्योंकि इसके सबसे अच्छे उदाहरण ५०-१५० ई. अर्थात कनिष्क के शासन काल के मिलते हैं। कहना न होगा कि कनिष्क बौद्ध-धर्म के महायान संप्रदाय का था और उसने अपने शासन काल में बौद्धों की तृतीय सभा का आयोजन किया था। अतएव गांधार शैली में मिलने वाले उस समय के अधिकांश नमूने बौद्ध रचना के हैं। चीनी यात्रियों के विवरणानुसार कनिष्क ने अपनी राजधानी पुरूषपुर (पेशावर) में सबसे विशालस्तूप का निर्माण

[1] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पृष्ठ २४१।

[2] क– वही पृष्ठ २३९·

ख– हि सा. का. वृ. इति. पृष्ठ ६२२.

ग– डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्थान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २८१।

करवाया था। इसकी मूर्तियों में बुद्ध पूर्णतया भारतीय आसन में बैठे हुये हैं, भारतीय मुद्रा में ही उनके हाथ हैं तथा भारतीय ढंग से वे ध्यानावस्थित भी हैं। इसी प्रकार बुद्ध और बोधिसत्व की जो विशेषतायें-जैसे घुंघराले बाल, दाहिने कंधे और भुजा का उत्तरीय से बाहर होना आदि बातें गांधार शैली में प्राप्त होने के पूर्व मथुरा की मूर्तियों में भी पाई जाती थीं। केवल गांधार शैली में यूनानी प्रभाव के कारण उनके स्वरूप में कुछ परिवर्तन हो गया है।[१] अतएव हम देखते हैं कि इस शैली में विदेशी प्रभाव स्पष्ट रूप में होते हुये भी उसकी आत्मा मूलतः भारतीय ही है। संक्षेप में "इसमें यूनानी मूर्तिकला की वास्तविकता और भारतीय कला की आत्मा अत्यधिक अभिव्यंजना के समन्वय का प्रयत्न किया गया है।"[२]

इस शैली की मूर्तियाँ अधिकांशतः बौद्ध-स्थलों से उपलब्ध हुई हैं। शाक्य मुनि गौतम, प्रव्रजित गौतम इस शैली के प्रधान नायक हैं। उन्हीं का जीवन, उन्हीं की आचरित घटनायें इसमें विशेषकर समावित हुई हैं। इस शैली प्राप्त मूर्तियों में से सर्वप्रथम उल्लेखनीय लाहौर संग्रहालय की खड़ी हुई बोधिसत्व की मूर्ति है। शहरे बहलोल में कुबेर और हारीति की सयुक्त मूर्ति के अतिरिक्त सिक्री की खड़ी और दोनों कंधों पर एक एक बालक धारण किये हुये हारीति की मूर्ति भी दर्शनीय है। इसी प्रकार इंद्रशैल गुफा में समाधिस्थ-बुद्ध की शांत प्रतिमा उनकी कायिक कृषता के साथ तप-फल की तेजस्विता को मूर्त करती है। डॉ. भगवत शरण उपाध्याय के मतानुसार गांधार शैली की मूर्तियों का निर्माण लगभग गुप्त काल (चौथी-पांचवीं शताब्दी) तक होता रहा।[3]

---

[१] डॉ पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४१।

[२] वही – शीर्षक वही.

[३] हिन्दी सा का वृहद इति., खंड ४, अ. २, पृष्ठ ६२३, शीर्षक-मूर्तिकला

मथुरा :

मथुरा नगर अति प्राचीन काल से ही धार्मिक केंद्र एवं समृद्धता के लिये प्रसिद्ध रहा है। यह प्रदेश प्रथम शताब्दी से महायान संप्रदाय के कुषाण राजाओं के अधिकार में आ गया, जिन्होंने बुद्ध की मूर्ति-पूजा का प्रचार करने के लिये बुद्ध के विभिन्न स्वरूपों को मूर्तिमान किया। इस प्रकार से ई. ५० से ई. ३०० तक मथुरा बुद्ध की प्रतिमाओं का चारों ओर वितरण करने का प्रमुख केंद्र हो गया। यही कारण है कि मथुरा शैली का प्रभाव अत्यंत व्यापक था। दक्षिण भारत की अमरावती शैली और उत्तर की गांधार दोनों ही इससे प्रभावित हुई।[१] ऐतिहासिक विद्वानों ने इसे शुद्ध भारतीय कुषाण शैली मानते हुये भी इसपर गांधार शैली का प्रभाव स्वीकार किया है।[२] उदाहणार्थ, सिलेनस, आसवपायी कुबेर मूर्तियाँ उसी शैली या उससे प्रभावित शैली में बनी।[३] इस शैली में मथुरा नगर तथा जिले में सैकड़ों मूर्तियाँ पाई गई हैं। मथुरा के स्तूप के तोरण, वेष्टनियों आदि पर उत्कीर्ण अलंकरण सामग्री साँची और भरहुत के ढंग की है। अतएव यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि कुषाण काल की मथुरा शैली की मूर्तियों में साँची और भारहुत की मौर्य और शुंग कालीन कला परंपरा का अनुसरण किया गया है। तथापि सामान्यत: उनका आकार प्रकार भारहुत और साँची के कलात्मक सौंदर्य की अपेक्षा कृत हीनतर रहा।[४] प्राय: मथुरा की सभी मूर्तियों में खादार, लाल, पत्थर का प्रयोग किया है, जो कि उक्त प्रदेश में प्राप्य है।

---

[१] डॉ. पी. के आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, अध्याय ५ : आधारभूत कलायें, पृष्ठ २३८, मूर्तिकला।

[२] हि.सा.का.वृ इति. पृष्ठ ६२३, मूर्तिकला, ले. डॉ. भगवतशरण उपाध्याय।

[३] स्मिथ: हिस्ट्री आफ फाइन आर्टस्, पृष्ठ ११२, चित्र ६२।

[४] चिन्तामणि कार : क्लासिकल इंडियन स्कल्पचर, पृष्ठ २०।

कहना न होगा कि कुषाण साम्राज्य भारत के अनेक प्रदेशों तक विस्तृत था। अतएव काल-विशेष में आकार जब वह उत्तर-पश्चिम भारत से पूर्व और दक्षिण की ओर क्रमशः विस्तृत होता गया तो उसके शासकों द्वारा कुषाण मूर्तिकार भी दूर दूर के प्रदेशों तक लाये जाते रहे। कालान्तर में भारत स्थित उनके साम्राज्य का केन्द्र मथुरा रहने के कारण उसकी मूर्ति-शैली अधिक प्रकाश में आई। यही कारण है कि इस शैली की मूर्तियाँ तक्षशिला, साँची, सारनाथ और अमरावती तक में मिलती हैं।[1] पाँचवी शताब्दी तक में कुशीनगर के म्रियमाण बुद्ध की एक विशाल मूर्ति बनाई गई थी पर उत्कीर्ण शिलालेख द्वारा यह ज्ञात होता है कि वह मथुरा ही के किसी शिल्पी की कृति है।[2] इन तथ्यों के आधार पर दो मुख्य निष्कर्षों पर सरलतापूर्वक पहुँचा जा सकता है। एक तो, मथुरा शैली का व्यापक प्रभाव रहा होने के साथ साथ समस्त भारत में मूर्तिकला का प्रसार उन दिनों यहीं से हुआ होगा, और दूसरे इस शैली का इतिहास गांधार शैली की अपेक्षाकृत अधिक दीर्घकालीन है। यही कारण है कि गुप्तवंशीय शासन काल में भी कुषाण मूर्तिकला की मथुरा शैली के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि आगे चलकर यह नगर तथा इसके आसपास का प्रदेश मुसलमान आक्रमण कारियों तथा शासकों द्वारा नष्ट भ्रष्ट किया गया था, जिसके परिणाम स्वरूप मथुरा शैली की अनेक मूर्तियाँ तोड़ फोड़ डाली गईं। अतएव इस शैली की मूर्तियों के बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं। अनेक तो टूट फूट कर अपने अधूरे अस्तित्व में ही प्राप्य हैं। नारी और पुरुष की युग्म मूर्तियाँ जो सिर रहित मिली हैं वे

---

[1] क- वहीं, पृष्ठ २०।
ख- डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २३९।
[2] वहीं, पृष्ठ २३९।

जातीय वैशिष्ट्य के साथ साथ उच्च स्तरीय कलाकृति की द्योतिका है। इसके अतिरिक्त इन मूर्तियों के जो खंडित उदाहरण मिलते हैं, उनके आधार पर केश–विन्यास तथा उन पर विविध वेश-सज्जा का परिचय भी प्राप्त होता है। उदाहरण की तौर पर यहाँ हम केवल दो नारी तथा एक पुरुष की खंडित शिर–मूर्तियों के संबंध में विचार करेंगे। मथुरा में प्राप्त और आज कल वहीं के संग्रहालय में संग्रहीत पुरुष शिर-खंड (द्वितीय शताब्दी ईसवी में निर्मित) जो कि लगभग ११ इंच ऊँचा है, किसी युग्म मूर्ति का भाग प्रतीत होता है। सिर पर मूल्यवान पगड़ी पहने हुये और मुख को देखकर उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा राजकीय घराने अथवा दरबारी होने का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार बालिकाओं की अन्य दो मूर्तियाँ क्रमशः द्वितीय शताब्दी ई. पूर्व तथा उसके भी पहले की हैं। इन की नाक की नोक तथा आसपास का भाग टूटा हुआ है, परन्तु केश–विन्यास तथा उसकी रूपसज्जा तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार इस काल की कतिपय खड़ी हुई मुद्रा वाली मूर्तियाँ जो कि यक्षिणियों की हैं, सुंदर रूपायन तथा अलंकरण से संयुक्त हुई प्राप्त हैं और चिन्तामणि कार के मतानुसार इस शैली की शास्त्रीय मूर्तिकला का प्रतिनिधित्व करती हैं।[1] मथुरा के पास देवकुल गाँव से जो कुषाण राजाओं की सिंहासनास्थ मूर्तियाँ मिली हैं उनसे पता चलता है कि वह स्थान उन राजाओं की अपनी गैलरी के रूप में प्रयुक्त हुआ था।

इसके अतिरिक्त मथुरा कृष्ण–भक्ति संप्रदाय का भी सबसे बड़ा केन्द्र रहा है। अतएव पौराणिक धर्म से संबंधित देवी–देवताओं के प्रारंभिक स्वरूप का विकास यहीं से हुआ था। इसके परिणाम स्वरूप

---

[1] चिंतामणि कार : क्लासिकल इंडियन स्कल्प्चर, पृष्ठ २१।

यहाँ शिव का एकमुखी लिंग, शिव और पार्वती का अर्धनारीश्वर रूप, सिंहवाहिनी दुर्गा, चतुर्भुज विष्णु, गजलक्ष्मी, वसुधारा तथा उषा रहित सूर्य के प्रतिमा रूप देखने को मिलते हैं। बाड़ों के स्तंभों पर ऋष्यश्रृंग, कपिल, भारद्वाज तथा एक अन्य स्थान पर दुर्वासा आदि ऋषि भी उत्कीर्ण हैं। मथुरा के प्रारंभिक शिल्पियों ने स्तंभों पर यक्षिणियाँ तथा दर्पण लिये हुये श्रृंगार करती हुई वन-देवियों को भी उत्कीर्ण किया है।[1] इतना ही नहीं, यहाँ के शिल्पियों ने कनिष्क तथा उसके पश्चात्कालीन कुषाण राजाओं तथा बौद्ध यक्षिणियों को भी अपनी मूर्तिकला में उतारा है। अत्यधिक अलंकृत एवं बहुमूल्य शिर के प्रसाधनों से युक्त पुरुष और स्त्रियों की प्रतिमाओं के एक - आध उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। इनके अतिरिक्त लौकिक जीवन के दृश्यों का निरूपण करने वाली पकी मिट्टी तथा पत्थर की प्रतिमायें भी प्राप्त हुई ह। वेदिका स्तंभों की अधिकांश मूर्तियों में कलावंतों का कलानिधि लहराता हुआ दृष्टिगोचर है। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के मतानुसार इनमें सजीव सामाजिक चित्र उभरे हैं जिनमें उस काल का विलास छलका पड़ता है और भाव-भंगिमायें इतने प्रकार की तथा इतनी संख्या में हैं कि गिनाई नहीं जा सकती।[2]

सारनाथ :

कुषाण–कला के मथुरा केन्द्र की मूर्तियों पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि उस शैली की मूर्तियाँ सारनाथ तक में पाई जाती हैं। वास्तव में मूलतः सारनाथ की कला मथुरा की ही कला-शैली का विस्तार थी। यहाँ तक उक्त कलाके आते आते पत्थरों के कोरने की

---

[1] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २३९।

[2] हि. सा. का. वृ. इति. : चतुर्थ खंड-द्वितीय अध्याय, कला-मूर्तिकला, पृष्ठ ६१९।

कला असाधारण रूप से विकसित हो चुकी थी। अर्द्धचित्रों के उभार अब तक कुछ और उठ आये थे। आकृतियाँ अब चिपटापन छोड़कर कुछ गोलाकार हुईं, जिन्हे डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में गुप्तकाल की अंडाकार आकृतियों का पूर्व रूप कहा जा सकता है।[1]

कहना न होगा कि ये समस्त विशेषतायें अधिकांशत: मथुरा शैली में भी मिलती हैं। अतएव सारनाथ की कला को एक स्वतंत्र कला नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जैसा कि कुषाण कला में प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि कुषाण कालीन भारत में जो चार बड़े कला–केंद्र प्रतिष्ठित हुये उनमें से एक केंद्र सारनाथ भी था, जिसमें पूर्व प्रदेश की कतिपय स्थानीय विशेषतायें मथुरा शैली के साथ संयुक्त होकर प्रकट हुई हैं।

यहाँ पाई जानेवाली अधिकांश मूर्तियाँ बुद्ध जी तथा उनकी जातक कथाओं से संबधित हैं। जातक–कथाओं का चित्रण करने के लिये भी पत्थरों को कोर कर मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं। इनके अतिरिक्त अवलोकितेश्वर, मैत्रय, मंजुली तथा जैन धर्म से संबंधित विभिन्न तीर्थंकरों की अनेक मूर्तियाँ भी मिलती हैं। सारनाथ की मूर्तियों से यह पता चलता है कि, उस समय मूर्ति–शिल्प का प्रत्येक अंग अपने चरम उत्कर्ष पर था।[2] छोटी से छोटी और विशाल काय से विशाल काय मूर्तियों में कलात्मक सूक्ष्मता का परिचय मिलता है।

अमरावती :

जिन दिनों उत्तर भारत में मूर्तिकला की गांधार और मथुरा शैलियाँ प्रतिष्ठित हो रही थीं, उसी समय दक्षिण में आंध्र शासकों की

---

[1] वहीं, पृष्ठ ६१९।

[2] डॉ. पी. के. आचार्य : भा. सं. एवं सभ्यता, पृष्ठ २३८, आधारभूत कलायें।

क्षत्रछाया में एक पृथक कला शैली का विकास हुआ। उस युग में आंध्र सातवाहनों का साम्राज्य पूर्वपश्चिम में बंगाल की पट्टी तथा अरब महासागर के बीच एवं सुदूर दक्षिण में कुमारी अंतरीय तक फैला हुआ था। विद्वानों का कथन है कि किसी समय कृष्णा और गोदावरी नदियों के डेल्टे के जिलों में अधिकर बौद्ध धर्म के स्मारक थे, और अमरावती, जग्यपट्ट या जग्यपेठ आदि स्थानों में जिन स्तूपों का निर्माण हुआ था, वे अब पूर्णतया नष्ट हो चुके हैं।[1] केवल लगभग दो सौ ईस्वी पूर्व में निर्मित धर्णीकोट का अमरावती स्तूप, जो शेष बचा है, उसके प्राप्त शिलालेखों द्वारा उपर्युक्त तथ्य का पता चलता है। यद्यपि वे स्तूप नष्ट हो चुके हैं तथापि कुछ बहुमूल्य मूर्तियाँ अब भी शेष बची हैं। अतएव इस कला का अमरावती ही अवशेष होने के कारण उसी के आधार पर संभवतः इस शैली को अमरावती शैली कहा गया होगा।

अमरावती मद्रास के समीप स्थित है। कुषाण काल से यह आंध्र के सातवाहन शासकों के अधिकार में थी। परंतु इस स्थान की प्रसिद्धि बौद्ध धर्म के पवित्र स्थान के रूप में थी। गांधार कला शैली के यहाँ पहुँचने के पहले ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी पूर्व के लगभग स्तूप का निर्माण हो चुका था परंतु उसकी रेलिंग प्रथम शताब्दी ईस्वी की है,[2] जो कि कालांतर में गांधार मूर्तिकला शैली की विशेषताओं को लेकर अनेक मूर्तियों द्वारा अलंकृत हुई थी। स्तूप का संपूर्ण भाग संगमर्मर की चित्रखचित पट्टिकाओं से ढक दिया गया है। रेलिंग के निर्माण में भी संगमरमर का प्रयोग किया गया है। भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में "अन्य प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के केंद्रों से इस विषय में भी

[1] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४१। आधारभूत कलायें।

[2] हि. सा. का. वृ. इति. : पृष्ठ ६२३।

अमरावती की मूर्तियाँ भिन्न हैं। आकृतियों की बंकिम भंगिमा. और उससे भी बढ़कर यष्टिकायिकता में अमरावती की आकृतियाँ अपना जोड़ नहीं रखतीं। पतली दुबली लचीली रक्तिम पुरुष की काया वस्तुतः अभिराम सिरीष वृक्ष सी लगती हैं और नारी की काम्य-काया उससे लिपटी लता सी। शरीर पर लम्बी धोती, उत्तरीय और कुषाण कालीन पगड़ी बहुत फबती है। कुशाण मूर्तियों में आभूषणों की भरमार है, प्रायः शुंगकालीन भूषा की ही भाँति, पर अमरावती के आभूषणों में संख्या की न्यूनता और सुरुचि की व्यापकता है।"[1]

अमरावती शैली की मूर्तियाँ जो अबतक उपलब्ध हुई हैं, उनमें से सात कलकत्ते के संग्रहालय में, १६० ब्रिटिश म्यूजियम में तथा ४०० खंडित मूर्तियाँ मद्रास के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[2] कालानुक्रम से ये मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं। प्रारंभिक मूर्तियाँ भरहुत शैली से संबंधित हैं और पश्चात्कालीन मूर्तियाँ मथुरा तथा गांधार की मूर्तियों से मिलती जुलती हैं। पुलुमयी, शिवांक तथा यज्ञ नाम के तीन आन्ध्र राजाओं के शिलालेखों द्वारा पता चलता है कि स्तूपों की बाड़ो पर अंकित अधिकांश मूर्तियाँ आन्ध्र शासकों के ही काल से निर्मित हुई थी। अमरावती का स्तूप आकार–प्रकार में लगभग साँची और भरहुत के स्तूपों जैसा है। स्तूप की विशालता एवं निर्मिति के संबंध में वास्तु कला के अंतर्गत विचार किया जा चुका है। अमरावती में प्राप्त होने वाली अनेक कुषाण मूर्तियाँ या तो मथुरा से यहाँ लाई गई हैं अथवा वहीं पर कुषाण कलाकारों द्वारा निर्मित हुई हैं।[3] इनका आकार अत्यंत भव्य तथा

---

[1] वहीं, पृष्ठ ६२४।

[2] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४१।

[3] चिंतामणि कार : क्लासिकल इंडियन स्कल्प्चर, पृष्ठ २२।

उच्चकोटी कला का निर्देशक है। इनसें अंकित जुलूस, राजदरबार, पारिवारिक तथा स्तूप पूजन के दृश्य अत्यंत ही सजीव एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं। मद्रास संग्रहालय में रखी हुई शिला पर अंकित लेख से हमें अमरावती स्तूप के विवरण का आभार मिलता है। बाड़ के ९ फीट ऊँचे स्तंभ अत्यंत उत्कृष्ट एवं कलापूर्ण ढंग से निमित हुए हैं। बाढ़ और स्तंभों पर अत्यंत सुंदरता पूर्वक कमल, गुलाब और विचित्र चाल से चलते हुये बौने अंकित हैं तथा स्थान स्थान पर कोई न कोई जातक कथा अथवा बुद्ध जी के जीवन से संबंधित कोई घटना अंकीत है।[१] मद्रास की एक मूर्ति में हाथी के दो स्वरूप अंकित किये हैं। एक में क्रोधाविष्ट हाथी अपनी सूँड़ से एक व्यक्ति को पकड़े हुये है, और दूसरे में वह बड़ी भक्ति और नम्रता से बुद्ध भगवान के आगे झुका हुआ है। इस मूर्ति में भावों की जैसी सुन्दर अभिव्यंजना है वैसी साँची आदि में देखने को नहीं मिलती। सूत्र रूप में अमराबती की कला सें वैयक्तिकता एवं सामूहिकता का सुंदर समन्वय हुआ है। उपर्युक्त पशु और मानव मूर्तियों के साथ साथ पुष्पों का अंकन भी अत्यंत आकर्षक है। बुद्ध जी को कमल की चौकियों पर खड़े हुये तथा इसी प्रकार प्रभा मंडल से युक्त अंकित किये जाने की प्रवृति अमरावती, सारनाथ, मथुरा और गांधार चारों स्थानों की मूर्तियों में एक ही प्रकार की मिलती है। कहना न होगा कि यह तात्विक एकता बौद्ध धर्म की सांस्कृतिक प्रेरणा तथा कुषाण शासन द्वारा कला के क्षेत्र में नवीन वातावरण के प्रवर्तन कें कारण प्रतिष्ठित हुई थी।

•

गुप्त-युग और उसके बाद :

गुप्त वंशीय सम्राटों का शासनकाल भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहा जाता है। इस युग का भारत विद्या, कला,

[१] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४२।

साहित्य – सभी दृष्टियों से उन्नति की चरम–सीमा तक पहुँच चुका था क्योंकि यशस्वी तथा महान गुप्त सम्राटों की क्षत्रछाया में देश गत समृद्धि एवं सुख–शान्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और इसके साथ ही साथ ये सम्राट स्वयं भी कला–प्रेमी थे। समुद्रगुप्त विक्रमादित्य के संबंध में ऐसा प्रसिद्ध है कि वह इतनी मधुर एवं सुरीली वीणाबजाता था कि सुनने वाले मंत्र-मुग्ध देखते रह जाते थे। सिक्कों पर वीणा बजाते हुये उसके चित्र उसको कला निपुणता का भी परिचय देते हैं। कहना न होगा कि गुप्त सम्राट वैष्णव होते हुये भी अन्य धर्मो के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते थे। लखनऊ संग्रहालय में घोडे की जो मूर्ति रखी है वह समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ की जान पड़ती है जिससे प्रकट है कि गुप्तवंशीय सम्राट ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे परंतु उसके द्वारा लंका के राजा सिरिमेघवन्न को गया में बोधिवृक्ष के पास एक मठ बनवाने की सहर्ष अनुमति देना आदि बातें उसकी धार्मिक उदारता का परिचय देती हैं। इसके अतिरिक्त गुप्त सम्राट राष्ट्रीय जाग्रति द्वारा विदेशी शक्तियों से सतत संघर्ष करके उन्हें भारत से बहिर्गत करने का सफल प्रयास करते रहें। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक रूप से उनके काल में राष्ट्रीयता की भावना प्रकृष्टतर होती गई और इसका प्रभाव सभी क्षेत्रों पर पड़ा। अतएव इसके कारण बौद्ध कलाकृतियों के निर्माण के लियें निर्बाध अवसर प्राप्त था, परन्तु उपर्युक्त राष्ट्रीय जाग्रति द्वारा भारत की निजी कला के पुनरुद्धार का कार्य बड़ी गति के साथ हुआ। अतएव इस काल के मंदिरों, स्तंभों तथा भवनों के निर्माण में मौर्य कालीन कला की मूल भावना को स्थान मिल गया। कहना न होगा कि गुप्त काल में सर्वांगीण उन्नति के साथ साथ मूर्ति कला का निर्माण बहुत बड़ी संख्या में हुआ, परंतु आगे चलकर जब इस साम्राज्य का भूभाग इस्लामी आक्रमणों द्वारा ध्वस्त किया गया तब कला–कृतियों के ये स्थान अधिकांशतः नष्ट–भ्रष्ट कर दिये गये। उनमें से केवल बहुत थोड़े से

प्रस्तर निर्मित मंदिर तथा चट्टाने काढकर बनाये गये मठ इत्यादि स्थान ही शेष बचे हैं। परंतु इस काल के जो भी भवन सुरक्षित रह पाये हैं वे यह प्रमाणित करतें हैं कि भारतीय प्रतिभा ने मूतिकला में भी प्रर्याप्त विकास किया था।

लंका के राजा सिरिमेघवन्न अथवा श्री मेघवर्ण ने जो बौद्ध मठ बोधिवृक्ष के पास बनवाया था, वह उन बौद्ध मठों का उत्कृष्ट उदाहरण है, जो तत्कालीन राजा महाराजा बनवाया करते थे। इसके तीन खनों में तीन बुर्ज, छः विशाल कमरे, तथा अनेक छोटे बड़े कमरे थे। इस मठ का कलात्मक सौंदर्य देखनें योग्य था। इसके चारों ओर सुंदर आकर्षक मूतियां तथा चित्र थे, जिलके बीच में सोनें, चांदी तथा मणि रत्नों से जटित गौतम बुद्ध की मूर्ति थी।[1] डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में "बुद्ध तथा उनका परिवार विशेष मर्यादा और परिष्कार से कला की मूर्धा पर बिराजे। इस युग का कलाप्रधान कला केंद्र काशी के समीप का सारनाथ बना।"[2] कहना न होगा कि गुप्त युग में पौराणिक धर्म के चरम विकास ने, जिस प्रकार धर्म साधना के क्षेत्र में शिव, पार्वती, शेषशायी विष्णु तथा उनके विविध अवतारों, लक्ष्मी, गणेश, मकरारूढ़ गंगा तथा अनेक देवी देवताओं की पूजा उपासना का, प्रवर्तन किया, उसी प्रकार उसने मूर्तिनिर्माण के क्षेत्र को भी असंख्य कलात्मक प्रतीक प्रदान किये यह उल्लेखनीय है गुप्त सम्राटों ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से बदल कर अयोध्या बनाई थी। अतएव इस नये परिवर्तन ने प्राचीन कलाकेंद्रों के अतिरिक्त इस नगरी को भी कलाकृतियों द्वारा विभूषित किया।

---

[1] डॉ. बेनी प्रसाद – हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता - "गुप्त साम्राज्य और उसके बाद"

[2] हिं. सा. का. वृ. इति. : पृष्ठ ६२५, मूर्तिकला।

गुप्तकालीन उपर्युक्त सांस्कृतिक चैतन्य ने मूर्तिकला को नया जीवन प्रदान किया। आकृतियां सर्वथा स्वाभाविक कर ली गई, तो वे शुंग काल की भांति चिपटी रही और न कुषाण काल की भांति गोल, अपितु उनकी प्रकृति अंडाकार हो गई।[1] समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के राजस्व काल में बनारस से लगभग आठ मील दूर सारनाथ तथा दूसरे स्थानों पर पत्थर के विशाल मंदिर बनाये गये थे जिनकी दीवारों, स्तंभो और छतों पर बहुत सी मूर्तियां थी। उनमें से अब तक कुछ ही शेष बची है। नवरत्नो से सुशोभित होने वाले वैभव शाली दरबार वाले चंद्रगुप्त द्वितीय के समय इस कला के विकास का और भी उपर्युक्त अवसर प्राप्त हुआ। इसके समय की बुद्ध जी की एक साढ़ेसात फीट ऊँची तांबे की मूर्ति जो सुल्तान गंज में मिली थी, वह आजकल बर्मिंघम म्युजियम में सुरक्षित है। इस मूर्ति के शरीर के सभी अंग सुगठित एवं सुडोल हैं तथा चेहरे से शांति, करूणा, संयम एवं सामंजस्य के भाव टपकते हैं।[2] वैसे सामान्यत: इस युग की बुद्ध मूर्तियों में एक नया परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। उनकी समाधिस्त मूर्तियों के उल्टे अँगूठे अपनी काष्ठरूपता को छोड़कर मांसल हुये और उनके परिधान की चुन्नटें शरीर का अलंकरण बन गई।[3] उसी प्रकार छठी शताब्दी ईस्वी के अंत में नालंदा (मगध) में बुद्धजी की एक ८० फीट उँची तांबे में ढली हुई मूर्ति मिली है, इसके आकार-प्रकार में भी उपर्युक्त विशेषतायें तथा सौंदर्य मिलता है। ऐतिहासिक विवरणों द्वारा

---

[1] वही - पृष्ठ ६२५.

[2] डॉ. बेनीप्रसाद - हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता - पृष्ठ ३३६ "गुप्त साम्राज्य और उसके बाद-कला"

[3] हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास पृष्ठ ६२५.

ज्ञात होता है कि स्तंभ बनाने की प्रथा जो कि अशोक काल में अत्यधिक प्रचलित रही, इस युग में भी वर्तमान थी। उदाहरणार्थ ४५६ ईस्वी में स्कंद गुप्त का भीतरी स्तंभ, ४६०–,६१ ई में एक जैन द्वारा गोरखपुर जिले का 'कहावन स्तंभ' तथा इनके पूर्व समुद्र गुप्त द्वारा निर्मित मेहरोली का लोहस्तंभ बने। स्तंभों को कहीं कहीं मूर्तियों द्वारा अलंकृत भी किया गया है। कहावन वाले जैन स्तंभ में पाँच जैन सिद्धों की मूर्तियाँ हैं – एक नीचे और चार चोटी पर। इसके अतिरिक्त झाँसी जिले के देवगढ़ के मंदिर में महायोगी शिव की मूर्ति है जिसके निकट ही एक ओर योगी है तथा अनेक उड़नेवाले गंधर्व-किन्नर हैं। इनमें योग की अवस्था बहुत अच्छी तरह चित्रित की गई है तथा इसी मंदिर के दक्षिण भाग में एक ओर अनंत सर्पपर शेषशायी विष्णु भगवान भी मूर्त हुये विराजमान हैं।[१]

उपर्युक्त विवरण के साथ साथ यहाँ यह दृष्टिगत कर लेना आवश्यक होगा कि इस युग के मूर्तिकारों नें नारी और पुरुष के अलंकरण में पूर्ववर्ती युग से आगे की ओर विकास शील प्रवृत्ति दिखाई है। दोनों ने इस युग में आकर नया केश–कलाप धारण किया। इसके पहले की पुरुष मूर्तियों में केवल सिर तक ही केश रहते थे, परंतु गुप्त कालमें आकार पुरुषों कें कुंतल केश लटकने लगें और बनायी हुई लटें भी प्रयुक्त होने लगी।[२] यह तो हुई पुरूष मूर्तियों की बात नारी मूर्तियों में कुषाण कालीन केश प्रसाधन छोड़ कर, उन्हे वृत्ताकार बनाने के स्थान पर अलग जाल के रूप में निर्मित किया जाने लगा।[3] इनके अतिरिक्त

---

[१] डॉ. बेनी प्रसाद – पृष्ठ ३३८.

[२] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास पृष्ठ ६२५.

[३] वही.

गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्तियाँ प्रस्तर कला की भांति ही सुंदर हैं जो राजघाट, गढ़वा, कोसम, मथुरा आदि अनेक स्थानों पर प्राप्त हुई हैं। इनका अलंकरण उपर्युक्त पत्थर-मूर्तियों की तरह का है। भीतर गाँव (कानपूर जिले) के मंदिर में प्राप्त हुई, रामायण और महाभारत की कथा व्यक्त करनेवाली अनेक फीट डेढ़ फिट के साँचे द्वारा ढाली गई मिट्टी की मूर्तियाँ अब लखनऊ संग्रहालय मे संग्रहीत हैं। इन मूर्तियों की कला उच्च कोटि की है।

उपर्युक्त मंदिरों, स्तूपों तथा स्तंभों की मूर्तियाँ के अतिरिक्त तत्कालीन मूर्तिकला का यथेष्ट परिचय गुफाओं में चट्टानें कोर कर बनायी गई मूर्तियों से मिलता है। वैसे तो एलोरा तथा अजंता की अधिकांश गुफायें इस युग के बाद की हैं, परंतु पाँचवी शताब्दी ईस्वी में उत्कीर्ण हुई अजंता की दो गुफायें (नं. १६ और १७.) हैं जो कलात्मक उत्कृष्टता में कार्ली गुफा के समकक्ष हैं।[१] इस युग के कला-कार चट्टान को इतनी कुशलता के साथ काटते थे कि कमरे, स्तंभ, द्वार आदि बनते जाँय और उनके साथ ही देवी देवता, स्त्री-पुरुष, हाथी शेर आदि सुंदर मूर्तियाँ भी प्रकट हो जाँय। कहना न होगा कि इनकी मूर्तियाँ अत्यंत आकर्षक तथा अन्य मूर्तियों की अपेक्षाकृत सुदृढ़ और टिकाऊ भी हैं। अजंता की गुफाओं में मूर्तियों की अपेक्षाकृत चित्रकला का उद्घाटन अधिक परिणाम में हुआ है। जिसके संबंध में आगे विचार किया जाएगा। गुप्त साम्राज्य के अंतिम दिनों में मध्य एशिया के हूणों के आक्रमण पर आक्रमण कर कालांतर में साम्राज्य की कमर तोड दी और जब यह इस प्रदेश में प्रविष्ट हुये तब उन्होंने गुप्तकालीन हजारों मूर्तियाँ तोड़ फोड़ डाली और जो शेष बची, वे आगे चलकर मुसलमानों के आक्रमण का लक्ष्य बनकर नष्ट हुई।

---

[१] चिंतामणि कार : क्लासिकल इंडियन स्कल्प्चर, पृष्ठ २५।

गुप्त काल के बाद की कला :

मूर्तिकला मर्मज्ञ श्री चिंतामणि कार के मतानुसार गुप्तकालीन मूर्तिकला की शास्त्रीय परंपरा यद्यपि ईस्वी सन् की छठी शती तक समाप्त हो जाती हैं, तथापि इस देश में आगे आने वाले काल की मूर्तियों में कलात्मक आदर्श तथा गुप्तों द्वारा प्रतिष्ठित उसकी मूल भावना वही बनी रही, और उसने भारत की ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के प्रभाव–क्षेत्र में आने वाले सुदूर पूर्व के देशों की कला को भी भलीभांति प्रभावित किया।[१] गुप्त काल के पश्चात सबसे पहले प्रकाश में आने वाली मूर्तिकला का परिचय अजंता, एलीफैन्टा, इलोरा तथा औरंगाबाद की पश्चात्कालीन गुफाओं की मूर्तियों में मिलता है। इस युग अर्थात् सातवीं शती से चौदहवी शती तक के काल को भारतीय कला का सबसे बड़ा 'सृजनात्मक युग' कहा जाता है। अजंता और इलौरा की गुफायें संसार भर को आश्चर्य चकित कर देने वाली चित्रकला के लिये प्रसिद्ध हैं, परंतु उसके साथ ही मूर्तिकला का अभित भाण्डार उनमें भरा हुआ है। कला के क्षेत्र में उपर्युक्त सृजनात्मक युग की नींव यद्यपि गुप्त युग में पड़ चुकी थी और उसी से इस युग की सातवीं-आठवी शतियों में एलोरा की विशाल गुफायें, जो कि भव्य में कैलाश मंदिर से सुशोभित हैं, बन सकी।[२] इसके अतिरिक्त औरंगाबाद तथा बंबई के पास की एलीफंटा की गुफायें भी लगभग उसी प्रकार की हैं। इन मंदिरों और गुफाओं में ब्राह्मण धर्म के देवी देवताओं की मूर्तियां और रामायण महाभारत तथा पुराणों की कथाओं के दृश्य बड़ी बड़ी चट्टानों को काट कर अंकित किये गये हैं। इसके विषय में पंडित नेहरू ने, डिस्कवरी ऑफ इंडिया, नामक ग्रंथ में बड़े आश्चर्य के

[१] चिन्तामणि कार : क्लासिकल इंडियन स्कल्पचर, पृष्ठ २५।

[२] डॉ. पी. के. आचार्य – पृष्ठ २४५

साथ लिखा है-" यह अनुमान लगाना कठिन है कि मनुष्य ने किस प्रकार इसकी कल्पना की अथवा कल्पना कर के अपनी कल्पना को किस प्रकार साकार किया।"

इतिहास कारों का अनुमान है कि बौद्ध धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप गुप्तकालीन कलाकारों ने प्रारंभ में वैदिक देवताओं को मूर्तिमान करना आरंभ कर दिया।[1] इसके साथ ही यह भी संभव हो सकता है कि गुप्त काल में पौराणिक धर्म के रूप में नये प्रकार पुनर्जाग्रत होने वाले ब्राह्मण धर्म ने, बौद्ध धर्म से लोक प्रियता में आगे बढ़ जाने की होड़ में अनेक आकर्षक उपासना पद्धतियों का प्रवर्तन किया होगा, जिस में मूर्ति पूजा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला। यह पौराणिक धर्म गुप्त काल के पश्चात् भी क्रमशः प्रचार व प्रसार पाता गया। इस युग में आकार त्रिदेवों ब्रह्मा, विष्णु, महेश का महत्व बढ़ चला, जिनके साथ ही उनके वाहनों–हंस, गरूड़ तथा नंदी के प्रति भी श्रद्धा भावना विकसित हुई। इन परिस्थितियों ने तत्कालीन कला कारों को भी प्रेरणा प्रदान की जिसके परिणाम स्वरूप इस युगमें न केवल देवताओं की ही मूर्तियाँ निर्मित हुई अपितु वे अपनी शक्तियों (देवियों) तथा पशुवाहनों तथा उनके अतिरिक्त गणेश, कार्तिकेय, शेष इंद्र, मैत्रेय आदि देवताओं को भी मूर्तिमंत किया गया।

इस युग के मंदिरों की एक बहुत बड़ी संख्या (लगभग छः सौ) उड़ीसा के पुरी और भुवनेश्वर जिलों में है। " इन मंदिरों वें मूर्तियों की बहुलता है, यद्यपि इनमें कुछ अत्यंत अश्लील हैं, तब भी इन मूर्तियों का अलंकरण अत्यंत सुकुमारता और विविधता से किया गया है।[2]

[1] वहीं – पृष्ठ २४५.

[2] डॉ. पी. के. आचार्य – पृष्ठ २४५.

इसी प्रकार चंदेल राजाओं द्वारा ९०० से १२०० इस्वी के बीच निर्मित खजुराहो (बुंदेलखंड) के मंदिरों में भी अनेक अश्लील मूर्तियाँ हैं, जिनके अतिरिक्त परिवार सहित शिव पार्वती की मूर्ति का अंकन उच्च कोटि की कला का निर्देशक है। वास्तु–निर्माण तथा मूर्तियों द्वारा प्रकट होता है भारतीय कला अधिकतर धर्म से संयुक्त रही संभवतः प्राचीन कलाकार मूर्ति निर्माण के माध्यम द्वारा धर्म की सेवा किया करते थे। मद्रास से पैंतीस मील दक्षिण माम्लपुरम् में सप्त पैगोड़ा के निकट मंदिरों का एक समूह हैं, जिसे रथ कहा जाता है। एक मंदिर में महिषासुर का संहार करती हुई दुर्गा की मूर्ति अंकित की गई है। बैबिंगटन ने इसकी प्रशंसा करते हुये इसे हिंदु मूर्तिकला की सबसे बड़ी, अधिक सजीवता और स्फूर्ति से युक्त मूर्ति कहा है। ९० फीट लंबी और तीस फीट उँची चट्टान काट कर यह विशाल मूर्ति उत्कीर्ण की गई है।

कहना न होगा कि इस युग में उत्तर भारत की पौराणिक मूर्तियों में कला की दृष्टि से हीनता होती गई।[1] परंतु दक्षिण भारत में उनकी कला उत्थान की ओर उन्मुख दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त इस युग में बौद्ध धर्म के ह्रास होने के कारण बुद्ध क्रमशः कला के क्षेत्र से विलुप्त होते गये और ९०० ईस्वी से १२०० ईस्वी तक के मध्य में उनका स्थान तांत्रिक वज्रयान के सिद्धों ने ले लिया।[2] इस प्रकार यह युग पौराणिक हिंदु और तांत्रिक मतों का है। तांत्रिक बौद्ध धर्म तांत्रिक शाक्त धर्म से बहुत कुछ मिलता जुलता होने के कारण पल्लव युग की बौद्ध तारा और हिंदु लक्ष्मी की मूर्तियों में बहुत कुछ समानता आ गई।[3]

---

[1] हि. सा. का. वृ इति.; पृष्ठ ६२७, चतुर्थ खंड : कला – मूर्तिकला। ले. भगवतशरण उपाध्याय।

[2] वहीं, पृष्ठ ६२७, शीर्षक वही।

[3] वहीं, पृष्ठ ६२८, शीर्षक वही।

इस परंपरा में निर्मित कुर्किहार में (गया) मिली मरीची (उषा) की प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है। इस मूर्ति को तीन मस्तक, और छः भुजायें है और देवी सात शूकरों वाले रथ पर सवार आलीढ़ मुद्रा में उभरी हुई अंकित है। आजकल यह मूर्ति लखनऊ संग्रहालय में रखी हुई है। सूर्य की खड़ी हुई कुछ मूर्तियाँ भी अधिकतर इस काला में बनने लगीं थीं।[1]

धर्म-भावना से उत्प्रेरित उपर्युक्त मूर्तियों के अतिरिक्त इस युग की कला में तत्कालीन जन-जीवन भी बड़ी उत्कृष्टता के साथ अंकित हुआ है। अजंता की गुफा नंबर १७ और १९ में एक माता अपने छोटे बच्चे से गौतम बुद्ध का आहार दिला रही है। इसी प्रकार गुफा नंबर दो में एक ही पैर पर खड़ी हुई स्त्री दूसरे पैर को ऊपर उठाकर स्तंभ सँभाले हुए विचार-मग्न मुद्रा में दिखाई गई है। मथुरा और उसके निकटवर्ती प्रदेश से ऐसी बहुत सी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो जन-जीवन का चित्र उपस्थित करते हुए कलात्मक उत्कर्ष का भी परिचय देती हैं। एक मूर्ति में एक आदमी बायें हाथ से एक शेर को पकड़ हुये है, उसके टूटे हुए दाहिने हाथ पर गदा होने का अनुमान लगता है, जो संभवतः शेर को मारने के लिये रही होगी। इसी प्रकार अनेक मूर्तियों में मदिरा-पान के दृश्य अंकित हुए हैं। एक स्थान पर अशोक वृक्ष के नीचे शराब पीने के बर्तन पड़े हुए हैं और दो पुरुष तथा दो स्त्रियाँ खड़ी हुई अंकित की गई हैं। मदिरा में उन्मत्त पुरुष केवल लँगोट पहने है, एक हाथ स्त्री की कमर पर डाले है और उधर स्त्री ने उसके दूसरे हाथ को पकड़ रखा है कि कहीं वह नशे के कारण गिर न जाय। शेष एक स्त्री और एक पुरुष ठीक वस्त्र पहने हुए दिखाये गये हैं, परंतु यह मूर्ति इतनी विकृत हो गई है कि उसकी भाव-मुद्रा ठीक से समझ में नहीं आती।

---

[1] वहीं, पृष्ठ ६२८, शीर्षक वही।

दोनों स्त्रियाँ भारी हँसुली, पहुँची, कड़े इत्यादि अलंकारों से युक्त हैं। इसके पीछे मूर्ति समूह में पाँच प्राणी हैं। यह संपूर्ण दृश्य बड़े कौशल के साथ खींचा गया है तथा जीवन से पूरा का पूरा सादृश्य रखता है। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर अशोक के नीचे पाँच व्यक्तियों के चित्र खींचे गये हैं, जिनमें से मोटे-नंगे गँवार की हाथ में शराब का प्याला लिये एक बैठी हुई मूर्ति है और उसके पास एक स्त्री शराब भरने जा रही है। इसके अतिरिक्त शराब पीते हुये नागों की बहुत सी मूर्तियाँ भी मिलती हैं जिनके संबंध में डॉ. बेनीप्रसाद का अनुमान है कि यह यक्ष-पूजा करने वालों की या पुराने वाम मार्गियों की हों अथवा यो ही आनंद-विनोद के लिये बनाई गई हों, परंतु इनकी कलक में स्वाभावात्रिकता तथा जीवन सादृश्य ऊँचे दर्जे का है।[1] यह उल्लेखनीय है कि इस युग का उत्तर भारत वाममार्गी साधनाओं के प्रसार का केन्द्र बनता जा रहा था।

कहना न होगा कि इस युग में मंदिरों का निर्माण बहुत बड़ी संख्या में हुआ था। उपर्युक्त मंदिरों के अतिरिक्त इस काल के अनेक मंदिरों के उल्लेख भी मिलते हैं। सुल्तान महमूद गजनवी ने अपने विवरण में मथुरा के मंदिरों की बड़ी प्रशंसा की है। मंदिर की विशालता का वर्णन करने के पश्चात वह लिखता है कि "मूर्तियों में पाँच ऐसी थीं जो लाल सोने की बनी हुई पांच-पांच गज लंबी थीं और हवा में लटक रही थीं। एक मूर्ति की आँखों में ऐसे लाल थे कि अगर उन्हें कोई बेचे तो पचास हजार दीनार पाये। दूसरी मूर्ति में एक माणिक था जो पानी से भी ज्यादा साफ और शीशे से ज्यादा चमकदार था; तौल में ४५० मिस्काल था। एक दुसरी मूर्ति के दो पैर तोल में ४४० मिस्काल थे। इन मूर्तियों से ९८३०० मिस्काल सोना मिला। चांदी की मूर्तियाँ २०० थीं।

[1] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ ३४१।

बिना तोड़े इनका तोलना नामुमकिन था।"[१] कहना न होगा कि महमूद का संपूर्ण ध्यान मंदिरों के कलात्मक-वैभव की ओर न होकर उसकी बहुमूल्यता की ओर ही था। नेपाल में इस समय भी तत्कालीन दो हजार मंदिर वर्तमान है, परंतु इनमें वास्तु कला की प्रधानता दिखाई पड़ती है। केवल कुछ मंदिरों के चबूतरों और सीढ़ियों पर हाथी, शेर और वीरों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं जिन्हे मूर्तिकला की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता।

मुस्लिम तथा आधुनिक युग :

ईस्वी सन् की बारहवीं शताब्दी के आसपास मूर्तिकला के क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्तन होता है जिसे डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने प्रागैतिहासिक युग माना है।[२] इस युग में सबसे पहले मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट किया गया। कला की दृष्टी से देखा जाय तो लगभग तब से लेकर वर्तमान काल तक उसकी एक ही ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति अथवा अवस्था देखी जाती है। इस युग में मूर्तियों के तोड़ने के प्रयत्न मुसलमान आक्रमकों तथा शासको द्वारा हुये, और इसके पूर्व ऐसे संहारकारी कार्य हूणों ने भी किये थे। ऐसी परिस्थिति में उत्तर भारत में एक प्रकारसे मूर्तिनिर्माण का कार्य रूक सा गया, परंतु दक्षिण मुस्लिम प्रहारों की परिधि से बाहर रहने के कारण वहाँ मूर्तिकला का निर्माण सतत गति से होता रहा। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में "अनेक दक्षिणात्य राजकुलों की संरक्षा में मूर्तिकला का विकास दक्षिण में दीर्घ काल तक होता रहा परंतु चोल राजकुल की बनवाई ग्यारहवीं शती की मंदिर-मूर्तियों के अतिरिक्त प्राय: सभी कला की दृष्टि से साधारण हैं।

---

[१] वहीं पृष्ठ ४२६ ।
[२] हिं. सा. का. बृहद इति., पृष्ठ ६३२ ।

संख्या में ये अपरिमित थीं क्योंकि पुराणों और तंत्रों का सारा आकार इन निर्माताओं को उपलब्ध था और उसका उन्होंने समुचित उपयोग किया। पौराणिक देव-परिवार कल्पना का योग पाकर इन मंदिरों पर उमँग आये; यद्यपि रसात्मक सौन्दर्य से उनका कोई संबंध न था। मूर्तियों का विधान रस पद्धति को छोड़कर सर्वथा लक्षण-प्रधान हो गया।"[१]

उपर्युक्त विवरण द्वारा प्रकट है कि प्राक्-आधुनिक युग मूर्तिकला के क्रमशः ह्रास का है। उत्तर भारत में मूर्तिनिर्माण एक प्रकार से दीर्घ काल तक के लिये सर्वथा बंद सा हो गया, परंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि दक्षिण में यह निर्माण कार्य चलता रहा। मैसूर के मंदिरों की अनेक उभरी हुई मूर्तियाँ बँगलौर के संग्रहालय में जिनमें बेंगुर अतकुर के दसवीं शती के युद्धचित्र प्रशंसनीय हैं।[२] चोलों ने त्रिचनापल्ली में अनेक मंदिरों का निर्माण किया था, इनमें से प्रधान मदिर की अलंकार मूर्तियाँ सुंदर हैं। इनसे भी अधिक सुंदर तथा कलात्मक मूर्तियाँ मैसूर में होयसाल वंश के राजाओं ने बनवाईं। इस वंश के राजा विष्णु-वर्धन (१२ वीं शती) द्वारा निर्मित होलविद मंदिर मूर्तियों, शेरों, पशु-पक्षियों तथा अन्य सैकड़ों आकार प्रकार तथा नक्कासी के कारण अत्यंत महत्व पूर्ण है। इसमें ७१० फीट लम्बी एक प्रस्तर पट्टिका पर लगभग दो हजार सवारों से युक्त हाथियों की मूर्तियाँ बनी है, जिनके हौदे, जंजीर, जेवर बड़े सुन्दर और आकर्षक हैं।[3] इसी समय के वेलारी जिले के यालुगा मंदिर की मूर्तियाँ होयसाल मूर्तियों की

---

[१] हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास पृष्ठ ६३२.

[२] वहीं पृष्ठ ६३३।

[३] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता पृष्ठ ४२८

भाँति ऋद्ध है परंतु सौंदर्य में निसंदेह पर्याप्त ही नहीं।[१] इसके अतिरिक्त बेलूर का मंदिर, मद्रास के बेवरी जिले का चालुक्य मंदिर, राजपूताने में माउंट आबू का संगमरमर का मंदिर, चित्तौड़ का जैन मंदिर भी मूर्तिकला के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। श्री जगन्नाथ पुरी का वर्तमान मंदिर जिसका जीर्णोद्धार राजा अनंग भीमदेव ने तेरहवीं शताब्दी में कराया था, की मूर्तियों में तीसरी शताब्दी की विशेषतायें पाई जाती हैं।[२]

बौद्ध धर्म को प्रारंभ में प्रश्रय देने वाली मध्य और दक्षिण भारत के मध्यम वर्ग की जनता ने कालान्तर में जैन धर्म ग्रहण किया। इसीलिए ग्यारहवीं तथा बारहवीं शतियों में बुंदेलखंड में व्यापक रूप से जैन मूर्तियों का निर्माण हुआ।[3] इसी प्रकार दक्षिण भारत में एक ही पत्थर पर बनी हुई मूर्तियां अपनी विशालता से संसार भर को आश्चर्य चकित कर देती हैं। श्रवण वेल गोला में ५७ फीट ऊँची बाहुबली की मूर्ति एक ही चट्टान काटकर बनाई गई है। बिहार की पारसनाथ पहाड़ी पर तीर्थंकरों की सुंदर मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।

चौदहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक दक्षिण में मुसलमानी रियासतों से निरंतर संघर्ष करने वाले विजयनगर राज्य की प्रतिष्ठा ने इस कला को समृद्ध करने का सुंदर अवसर प्रदान किया। कहना न होगा कि इनमें अत्यधिक श्रम व्यय हुआ है तथापि कला की

---

[१] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास पृष्ठ ६३३.

[२] यस यम असगर अली कादरी मूर्ति कला का इतिहास, पृष्ठ १३४.

[३] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४६, आधारभूत कलायें.

सप्राणता का अभाव है। उदाहरणार्थ यहाँ के मंदिरों में हजारा स्वामी नामक मंदिर पर रामायण की कथाओं के दृश्य अंकित करने वाली अनेक मूर्तियाँ हैं, परंतु वे अकड़ी-जकड़ी खड़ी हैं। इन मूर्तियों को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि मूर्ति तराश फिर से मूर्तियों के तराशने का अभ्यास कर रहा है, और इसका कारण तत्कालीन कलाकार का वास्तु निर्माण की दिशा की ओर मुड़ जाना है जिसका परिणाम दक्षिण के सुल्तानों द्वारा बनवाई जाने वाली इमारतों में सजावट की बहुतायत में दिखाई पड़ता है।[१] दक्षिणी कन्नड़ की अनेक मूर्तियाँ भी लगभग इसी प्रकार की हैं। डॉ पी. के. आचार्य के मतानुसार इन मूर्तियों का, चाहे वे किसी भी धर्म से संबंधित रही हों, निर्माण समान आदर्श का प्रदर्शन करने के लिये शिल्प-शास्त्र के नियमों के आधार पर हुआ था और उनमें शारीरिक शक्ति तथा अंग-सौष्ठव का परिचय देने के लिए शरीर के विभिन्न अवयवों को स्पष्ट और सुदृढ़ मांस पेशियों के साथ अंकित करने के स्थान पर आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना करना ही इन सबका समान आदर्श था।[२] विजय नगर साम्राज्य के राजाओं ने धातु मूर्तियों के अंकन में बड़ी सहायता की और ऐसे कलाकारों का सम्मान किया। इन मूर्तिकारों ने कृष्णदेवराय और उनकी दो रानियों की अत्यंत सुंदर मूर्तियाँ बनाई जो कि तिरूमलय मंदिर में रखी हैं जिनमें पीतल पर मूर्तिकला का सुंदर अंकन हुआ है।[३] धातु मूर्तियों में नटराज शिव की मूर्तियाँ अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं। इनमें शिव की तांडव-नृत्य मुद्रा अत्यंत कलात्मक उत्कर्ष के साथ प्रकट हुई है। विजय नगर साम्राज्य की छत्रछाया में पनपने वाली मूर्तिकला के इतिहास में राजधानी के स्थानीय देवता विठोबा, जो विष्णु के अवतार माने जाते हैं का मंदिर सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। विठोबा की मूर्ति के स्थापनार्थ

---

१ यस. यम असगर अली कादरी : मूर्तिकला का इतिहास, पृष्ठ १४८।
२ डॉ पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४६, २४७।
३ हि. सा. का. वृ. इति. : पृष्ठ ६३३, ६३४.

इस मंदिर का निर्माण कार्य अच्युत रावल (१५१९ ई. से १५४२ ई. तक) ने आरंभ किया था परंतु यह मंदिर पूरा न बन सका। ग्रेनाइट पत्थर द्वारा निर्मित इसका मंडप अत्यंत भव्य एवं अद्वितीय है और उसमें द्राविड़ कला का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है।[1] यहाँ पर व्याल, शार्दूल आदि मूर्तियाँ प्रवेश द्वारों पर तथा उन पर बनी हुई नर-मूर्तियाँ उच्चकोटि की कला का आभास देती हैं।

मुगल शासन काल में बुंदेलखंड में सोनागढ़, गाविलगढ़ के निकट मुक्तिगिरि के जैन मंदिर, अहिल्याबाई का मंदिर तथा वृंदावन में अनेक वैष्णव मंदिरों का निर्माण किया गया। पंद्रहवीं शती में बनवाये गये शिव मंदिर के परकोटे में शिवपुत्र सुब्रह्मण्य का एक मंदिर है जिसकी बनावट अन्य मंदिरों से बिलकुल भिन्न है। इसमें गोपुरम् के साथ साथ छोटे आकार प्रकार का बहुत अलंकृत विमान जुड़ा हुआ है। गोपुरम् में गणेश मूर्ति की स्थापना है और विमान के अंतराल में सुब्रह्मण्य की। उत्तर भारत के मंदिरों में चित्तौड़ गढ़ की मूर्तिकला का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। राजपूत तथा मुगल संघर्ष की केन्द्रस्थली होने चित्तौड़ गढ़ भारत के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है वैसे तो गढ़ का आकर्षण वहाँ का दुर्ग ही है, परंतु उसके प्रवेश द्वार पर पाउन पोल से लगाकर मार्ग स्थित भैरव पोल, हनुमान पोल, गणेश पोल, लक्ष्मण पोल तथा इनसे संबंधित भवनों एवं स्मारकों में मूर्तिकला के अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं। कला की दृष्टि से चित्तौड़ का महत्व अत्यधिक है। कीर्ति स्तंभ, स्मृति स्तंभ जैनमंदिर, मीरा मंदिर आदि स्थानों की मूर्तियों को ध्यान से देखने से प्रतीत होता है कि ये मूर्तियाँ अधिकतर देवी देवताओं तथा नर-नारियों की है। कीर्तिस्तंभ और स्मृतिस्तंभ की

---

[1] यस. यम. असगर अली कादरी : मूर्तिकला का इतिहास, पृष्ठ १४५

मूर्तियाँ तत्कालीन सामाजिक जीवन का परिचय देती हैं। उच्चकोटि का गठन–कौशल प्रकट करने वाली जैन मंदिरों की असंख्य मूर्तियाँ, जो कि प्रस्तर शिलाओं पर उत्कीर्ण की गई है भाव-प्रकाशन की दृष्टि से भुवनेश्वर के मंदिरों (उड़ीसा) समकक्ष रखी जा सकती हैं।[१] इनका शारीरिक माप दण्ड दोष रहित तथा मुद्रा–प्रकाशन वैचित्र्य से परिपूर्ण हैं। अधिकांश मूर्तियाँ देव नर्तकी तथा मां–शिशु की विषय–वास्तु पर आधारित हैं। इसी प्रकार विष्णु-मंदिर, जिसे वर्तमानकाल में मीराबाई का मंदिर कहा जाता है, का अलंकरण बहुत ही उत्कृष्ट है। इसकी मूर्तियाँ अकड़ी जकड़ी और शरीर के प्रत्येक छोटे मोटे अंग को बनाकर दिखाया गया है जिसे एक मर्मज्ञ के शब्दों में इसे मूर्तियों का विश्व-कोष कहा जा सकता है।[२] सोलहवीं शताब्दी में मानसिंह द्वारा बनवाया गया गोविन्ददेव का एक विशाल मंदिर जो अब खराब अवस्था में पड़ा हुआ है, में सजावट का काम अत्यधिक है।

सत्रहवीं शती में निर्मित मदुरा का शिव मंदिर विलक्षण सौन्दर्य से युक्त एक सहस्त्र स्तंभों वाले अपने विशाल कक्ष के लिये प्रसिद्ध है। मूर्तिकला की दृष्टि से इसे विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, परंतु त्रिचनापल्ली का मंदिर अत्यंत सजीव तथा गति वाले विशाल घोड़े की मूर्ति और तंजौर का मंदिर भीमकाय वृषभ मूर्ति के कारण प्रख्यात है। इसी प्रकार द्रविड़ परंपरा में रामेश्वरम् तथा अन्य मंदिरों की दीवारें मूर्तियों से आच्छादित हैं जिनमें मूर्तिकला की उपर्युक्त विशेषतायें पाई जाती हैं।

---

[१] यस. यम. असगर अली कादरी : मूर्तिकला का इतिहास, पृष्ठ १४७ चित्तौड़ की मूर्तिकला।

[२] वहीं, शीर्षक वही।

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि बारहवीं शताब्दी के बाद का लम्बा काल मूर्तिकला के उत्तरोत्तर ह्रास का युग रहा है, यद्यपि मूर्ति का निर्माण निर्बाध तथा निरंतर होता आया है। आजकाल जयपुर, नाथद्वारा आदि में जो मूर्तियाँ बनती हैं वे प्रतिक और रसानुभूति दोनों ही दृष्टियों मे ही नतर हैं।[1] इसी प्रकार दक्षिण की कला भी निष्प्राण हो चली है। वर्तमान काल में योरोपीय कला के उपकरणों ने भारतीय मूर्तिकला को प्रभावित किया है और इस दिशा में अनेक प्रयोग हुये हैं जिनमें नवोनता के साथ साथ आकर्षण का गुण अवश्य आ गया है।

[1] हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास पृष्ठ ६३४, शीर्षक-मूर्तिकला।

३. चित्रकला

मूर्तिकला की तुलना में चित्रकला अधिक सूक्ष्म, परंतु कोमल कला है। इसके प्रारंभिक विकास के मनोवैज्ञानिक आधार पर इस पुस्तक के प्रारंभ में ही विचार किया गया है। भारतीयों की प्राचीन कलाओं का निरीक्षण करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि यहां चित्रकला की अपेक्षा मूर्तिकला का विकास अधिक था। यद्यपि तुलना करने से उसके उदाहरण भी कम मिलते हैं, तथापी प्राचीन ग्रंथो में इसके उल्लेखों के अतिरिक्त आज इतने उदाहरण मिलतें हैं, जो चित्रकला के प्राचीन विकसित अस्तित्व के द्योतन के लिये पर्याप्त हैं।

चित्रकला के प्रारंभिक विकास के सूत्रों का अन्वेषण करते समय हमें सर्वप्रथम प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखों का सहारा लेना पड़ता है। वाल्मीकि रामायण (१००० ईस्वी पूर्व में) जिस प्रकार सीता को हिरण्यमयी प्रतिमा के समान वर्णित किया है, उसी प्रकार चित्रित भवनों का भी उल्लेख आया है। महाभारत के उषा-अनिरूद्ध आख्यान में भी गह उल्लेख किया गया है कि उषा की दासी चित्रलेखा ने संसार के सभी महान् राजाओं को चित्रित किया था। इसके पश्चात्कालीन जातक कथाओं में (६००-५०० ई. पू) चित्रकला के अधिक विस्तृत

उल्लेख आये हैं। 'विनय पिटक' (९०० ई. पू.) में राजा पसनद के प्रासाद के चित्रागार का वर्णन आया है। लंका के "महावंश" के एक वर्णन से यह सूचित होता है कि रुवांवली डगोवा (१५० ई. पू.) की भित्तियाँ अनेक भित्ती-चित्रों से अलंकृत थीं। वात्सायन के कामसूत्र (१५० ई.) में चित्रकला के अतिरिक्त रंगों और तूलिकाओं आदि का भी विवरण मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय चित्रकला का यथेष्ट विकास हो चुका था। इसी प्रकार आगे चलकर कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' तथा भवभूति के 'उत्तर राम चरित्र' नाटकों में भी ऐसे भित्ति-चित्रों के विषय में उल्लेख किया गया है जो बड़े सजीव तथा यथार्थ थे। कहना न होगा कि पालि-साहित्य से लेकर हिंदी साहित्य तक इनका सर्वत्र वर्णन मिलता है और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साहित्य तथा चित्रकला में बड़ा निकट का संबंध रहा है।

प्राचीन उदाहरण :

उपर्युक्त साहित्यिक उल्लेखों के पश्चात् जब हम चित्रकला के उदाहरणें पर विचार करतें हैं तो इस क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति अजंता के भिति-चित्रों में पाते हैं,[१] और तब से लेकर अबतक की चित्रकला का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने योग्य पश्चात्का-लीन कला सामग्री भीं हमारे इस कार्य में सहायक होती है। अजंता-पूर्व काल के चित्रों के कतिपय उदाहरण तो अवश्य मिलते हैं, परंतु वे इतने अपर्याप्त हैं कि उनके आधार पर पूर्वकालीन विकास-क्रम की खोज प्रायः असंभव ही दिखती हैं। प्राचीन चित्रों के प्रारंभिक उदाहरणों के रूपमें, कैमूर पर्वत की श्रेणी की, सिंहगढ़ के निकटवर्ती पहाड़ियों तथा

---

[१] इंडियन आर्ट थ्रू दि एजेज : पृष्ठ ६, शीर्षक-पेंटिंग।

मिर्जापुर जिले की कुछ गुफाओं के चित्रों को लिया जा सकता है। इनमें शिकार के दृश्य अंकीत किये गये हैं।[१] इनके निर्माण काल के संबंध में डॉ. पी. के आचार्य का अनुमान है कि वे मोहनजोदड़ो की सभ्यता के पूर्व की है।[२] मिर्जापुर तथा मध्यप्रदेश की पहाड़ियों के रेखाचित्रों के विषय में इतिहास के विद्वान् डॉ. भगवतशरण उपाध्याय का मत है कि प्रस्तर युगीन ये चित्र उतने ही पुराने थे, जितने कि प्राचीन स्पेन के अल्तामाइरा और दक्षिण फ्रांस की गुफाओं के चित्र, और अभिव्यंजना की दृष्टि से वे बर्बर मानव की भावचेतनाओं को व्यक्त करते है जिसने भय, पूजा और उल्लास में उन्हें बनाया।[३] इनकी भावाभिव्यंजना अत्यंत ही साधारण कोटि की होने के कारण कला की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं है। इसके पश्चात चित्रकला का दीर्घ कालीन इतिहास अंधकार से आवृत्त है। ईस्वी पूर्व की द्वितीय या तृतीय शताब्दियों से भारतीय चित्रकला के पूर्ण विकसित होने के अवशेष मिलने आरंभ हो जाते हैं। ऐसे चित्र मध्यप्रदेश के सरगुजा के पास रायगढ़ या रामगिरि की पहाड़ी तथा मिर्जापूर जिले की जोगीमारा गुफाओं में पाए गए हैं। इन भित्ति-चित्रों में सांची और भारहुत की मूर्तियों से कलात्मक साम्य पाकर डॉ पी. के आचार्य ने इन्हें तत्कालीन माना है।[४] इनके वृत्ताकार चित्र एक दूसरे से वृत्ताकार रेखाओं द्वारा विभाजित हैं। एक चित्र में पेड़ के नीचे एक पुरूष बैठा है, बाईं ओर एक जुलूस है जिसमें एक हाथीं भी है। अन्य चित्र में फूल, घोड़े तथा कपड़े पहने हुये आदमी

---

[१] डॉ. पी. के आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४८, शीर्षक–आधारभूत कलायें; चित्रकला।

[२] वही, शीर्षक वही

[३] हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास पृष्ठ ६३५, शीर्षक–चित्रकला।

[४] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४८, चित्रकला।

दिखाये गये हैं। तीसरे चित्र में एक नंगा आदमी बैठा है जिसके पास तीन पुरुष कपड़े पहने खड़े तथा दो बैठे हुये हैं। इनके अतिरिक्त एक चैत्य वातायन–मंडित गृह के सामने एक गज पर वस्त्राभूषित तीन नर चित्रित हैं, जिनके पास ही क्षत्र–मंडित तीन घोड़ो का रथ, गज तथा परिचायक है।[१] इन चित्रों के संबंध में डॉ. बेनीप्रसाद का अनुमान है कि यह चित्र कदाचित् जैन या बौद्धों के हो, परंतु यह भी संभव है कि इनका संबंध किसी धर्मविशेष से न होकर आमोद–प्रमोद के लिये बनाये गये हो।[२] यह चित्र सफेद धरातल पर लाल या काले, खिचे हैं, कपड़े सफेद हैं परंतु किनारी लाल हैं और बाल काले तथा आँखे श्वेत हैं। कहना न होगा कि इनमें भावाभिव्यक्ति उच्च कोटि की न होते हुये भी वे निश्चय ही चित्रकला के पूर्ण विकास के द्योतक हैं।

अजंता के चित्र :

चित्रकला के सर्वांगीण विकास का परिचय हमें अजंता की गुफाओं के भित्तिचित्रों में मिलता है। इन भित्ति-चित्रों की निर्माण तिथि ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक के बीच में निश्चित की जाती है। कहना न होगा कि ये चित्र भिन्न भिन्न कालों में बनाये जिनमें प्राचीनतम उदाहरण प्रथम शती की ९ वीं और दसवीं गुफाओं के चित्रों में मिलतें हैं। अतएव यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि अजंता के भित्तिचित्र पाँच छः सौ वर्षों की चित्रकला का व्यवस्थित इतिहास उपस्थित करने में सर्वथा समर्थ हैं।

डॉ. पी. के आचार्य के मतानुसार अजंता के प्रारंभिक चित्रों के संबंध में भी चित्रकला के विकास की काफी उन्नत दशा दिखाई पड़ती है।[३]

---

[१] हि. सा. का. वृ इति., : पृष्ठ ६३६, शीर्षक–चित्रकला।
[२] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २२२।
[३] डॉ पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४८, चित्रकला।

इनमें बुद्ध जी के जीवन से संबंधित घटनाओं को लगभग जातक कथाओं के आधार पर चित्रित किया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इनका निर्माण बौद्ध भिक्षुकों के रहने के लिये किया था। उक्त उद्देश्य के पोषक रूप में बौद्ध धर्म संबंधी चित्रों का निर्माण मुख्यतः बौद्धों के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को उत्प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया होगा, यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

'स्वर्ण–युग' के नाम से प्रख्यात गुप्तवंशीय शासन काल में भारत की तेजस्वी संस्कृति को तत्कालीन अजंता के भित्ति–चित्रों द्वारा भली भाँति प्रस्तुत किया गया है। इन चित्रों का आश्चर्य जनक सौन्दर्य तथा अलंकरण इतना उत्कृष्ट है कि वह उन्हें भारत की राष्ट्रीय चित्र-गैलरी का गौरव प्रदान करने की योग्यता रखता है और इतना ही नहीं, अपितु इन्होंने यहाँ की चित्रकला के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान ही नहीं बनाया बल्कि भारत के बाहर भी मध्य एशिया, ब्रह्मा, लंका, चीन तथा जापान आदि देशों तक कला के प्रसार का सुअवसर प्रदान किया था।[1] गुप्तकालीन गुफा–चित्रोंकी संख्या बहुत अधिक है और वे सभी एक से एक बढ़कर इतने सुंदर बन पड़े हैं कि विद्वानों ने उन्हें अलग अलग सर्वश्रेष्ठ चित्र घोषित करके इस महत्वपूर्ण तथ्य को समझने का अवसर दिया है कि उन्हें देखकर यह निर्णय करना कठिन है कि कौन सा चित्र श्रेष्ठतम है। उदाहरणार्थ, १७ नंबर की गुफा में सैकड़ों प्रकार के आभूषणों को चित्रित करता हुआ राज्याभिषेक का जो अत्यंत प्रभावशाली दृश्य प्रस्तुत किया गया। उसके चित्रों की वर्णनात्मक शैली के संबंध में पर्सी ब्राउन का मत है–" यह बुद्ध के जीवन की कुछ सबसे महत्वपूर्ण और आकर्षक घटनाओं को चित्रित करने वाली चित्र-गैलरी है।

---

[1] इंडियन आर्ट थ्रू द एजेज पृष्ठ ७ शीर्षक-पेंटिंग।

ये चित्र गति और स्फूर्ति से ओत-प्रोत हैं।" बर्गेस ने इन चित्रों को सबसे सुंदर माना है। डॉ. पी. के. आचार्य के मतानुसार इन चित्रों ने तत्कालीन खोतान की चित्रकला को भी प्रभावित किया है और इसी प्रकार कितने ही चित्रों में मिलने वाली चीनी आकृतियाँ इस बात की द्योतक हैं कि उन्हें चीनी कलाकारों ने अजंता-शैली में बनाया था।[1] इसी प्रकार सोलहवें नंबर की गुफा में मरणासन्न का चित्र भी सर्वोत्कृष्ट माना गया है। ग्रिफिथ महोदय ने इसके विषय में लिखा है कि–" मेरा विचार है कि रस अथवा भाव तथा अपनी कथा को अभिव्यंजित करने की दृष्टि से कला के इतिहास में इस चित्र से श्रेष्ठ कोई कृति नहीं हो सकती।"

अजंता के अधिकांश चित्र अर्थात् उपर्युक्त गुफाओं के अतिरिक्त अन्य गुफाओं के चित्र ५५० और ६४२ ई० के बीच के हैं।[2] यद्यपि इन चित्रों में से बहुत से चित्र आज अंग भंग तथा मिटने की भी स्थिति में आ गये हैं, तथापि वे प्राचीन कला के द्योतन में सर्वथा समर्थ हैं। चित्रांकन में सफेद प्लास्टर पर गहरी लाल लकीरें खींचकर उनमें तरह तरह के यथावश्यक हल्के या गहरे रंगों का प्रयोग किया गया है। अधिकाश चित्र बुद्ध जी के जीवन अथवा जातकों में वर्णित बोधिसत्वों के जीवनों की घटनाओं से संबंधित हैं। गुफा नंबर १ में दक्षिण के सम्राट पुलकेशिन के दरबार का (६२६ ई.) एक दृश्य है जिसमें फारस के नरेश खुशरु पर्वेज के एलची आए हुये हैं। इस गुफा की छत में चित्रित "सांड़ों की लड़ाई, गति और अभिव्यक्ति-शक्ति में

---

[1] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २४९, चित्रकला.

[2] डॉ. वेनीप्रसाद : हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ, ३३८।

असाधारण है"।[1] इसमें ऊपर की ओर एक प्रेमी तथा प्रेयसी के प्रेम की सुंदर अभिव्यंजना की गई है, जिसके साथ ही फूल–पत्ते, हाथी, घोड़े और आदमी सजीवता एवं विशेष भाव की सूचना देते हैं। गुफा नंबर २ में एक पैर के बल खड़ी हुई दूसरे पैर से स्तंभ संभाले बाँये हाथ के अँगूठे और अनामिका को मिलाये ध्यानावस्थित मुद्रा में खड़ी कुछ सोच रही है। इसी प्रकार १७ वें तथा १९ वें नंबरों की गुफाओं में एक माता का शिशु से बुद्ध जी को आहार दिलाने की मुद्रा अत्यंत आकर्षक है।

अजंता के चित्र भारतीय चित्रों में सर्वोत्तम माने जाते हैं जिनमें निश्चय ही, आकार की उत्तमता के अतिरिक्त भाव का प्रदर्शन बड़ी उत्कृष्टता से किया गया है। "इस समय के भारतीय चित्रों से सिद्ध होता है कि यहाँ चित्रकला का प्रधान उद्देश्य आभ्यंतरिक भावों को प्रकट करना था।"[2] डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में "अलंकरणों के चित्रण में अजंता के कलाकारों ने गजब का कौशल प्रदर्शित किया है। फूल, पत्ती, पशु, गंधर्व, विद्याधर देख अभिराम जीवित रूपायित है। उनमें अद्भुत कोमलता और सजीवता है। व्यक्त और अव्यक्त कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे अजंता का कलाकार अपनी कूँची के नीचे न खींच ले।"[3] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इन चित्रों का विषय–क्षेत्र विस्तृत होने के साथ साथ भारतीय चित्रकारों की प्रतिभा बड़े सामर्थ्य के साथ प्रकट हुई है। कला में मानवी–प्रतिभा किस सीमा तक पहुँच सकती है – इसका पता इन चित्रों से ही लग सकता है।

---

[1] हि. सा. का बृहद् इतिहास, पृष्ठ ६३३, शीर्षक-चित्रकला

[2] डॉ. बेनीप्रसाद : हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ ३३७।

[3] हि. सा. का बृहद इतिहास पृष्ठ ६३७, शीर्षक चित्रकला.

अन्य उदाहरण :

अजंता की गुफाओं के अतिरिक्त गुप्तकालीन चित्रकला का सर्वप्रथम परिचय हमें लंका के बौद्ध राजा द्वारा गया में बनवाये गये बौद्ध-मठ के चित्रों में मिलता है जिसके बनवाने की अनुमति सम्राट समुद्रगुप्त ने सहर्ष दी थी। इस कलापूर्ण मठ के चारो ओर मूर्तियों के साथ ही असंख्य भित्ति-चित्र थे। यह मठ बौद्ध धर्म के महायान पंथ का था, जिसमें तत्संबंधी चित्रों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों के भी अनेक आकर्षक एवं सजीव चित्र थे। इसी प्रकार मालवा प्रदेश में स्थित बाघ की गुफायें भी अजंता की शैली में चित्रित की गई हैं। इनके अधिकांश चित्रों का निर्माण गुप्त काल में ही हुआ था। "अजंता की ही भांति विराग के बीच तपोभिन्न अल्हड़-उल्लसित, उन्मद, अनियंत्रित जीवन वहां के चित्रों में भी प्रवाहित है।"[1] इसके अतिरिक्त पशुओं तथा नृत्य, वाद्य एवं गायन के साथ अभिनय मुद्रा वाले सुंदर दृश्य भी इनमें अंकित हैं। प्रायः सभी विशेषतायें अजंता के चित्रों के समान ही हैं। इनका काल छठी शती तक का है जिसके पश्चात्कालीन अनेक शतियों का दीर्घ काल चित्रकला के ह्रास का ही है।

आठवीं शती से १५ वीं शती तक :

चित्रकला के इस पतन-काल में हमारे देश की कला का एक नये रूप में अंकन होना आरंभ हो जाता है, और वह है ग्रंथ-चित्रण जिसे "लघु-चित्रशैली भी कहते हैं। चित्रकला के इस नवीन विकास ने एक ओर पूर्व बंगाल में पाल (९ वीं शती से १२ वीं शती तक) और दूसरी ओर पश्चिम भारत में गुजराती (११ वीं शती से १५ वीं शती तक)

---

[1] वहीं, पृष्ठ ६३९, शीर्षक- वही।

शैलियों को जन्म दिया।[1] कलात्मक उपकरणों तथा विषय आदि की दृष्टी से इनमें परस्पर कोई अंतर नहीं हैं, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दोनों अलग प्रदेश की और परस्पर भिन्न कालों की कलायें हैं। कलात्मक उपकरणों की दृष्टि से लगभग १३५० ईस्वी तक के ग्रंथ-चित्रों में ताड़-पत्रों का उपयोग किया जाता था, परंतु पश्चात्कालीन चित्रों को (१३५० ई. के बाद के कागज पर अंकित किया जाने लगा। वस्तु-विषय की दृष्टि से ये तीन प्रकार की है – प्रारंभिक अवस्था में जैन कल्प–सूत्रों का ग्रंथ–चित्रण किया गया था और कालान्तर में वैष्णव–धर्म से संबंधित विषयों जैसे गीतगोविन्द, भागवत, कृष्णलीला, बाल गोपाल, स्तुति आदि का अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त 'वसंत-विलास' (१४५१ ई.) को सूती कपड़े पर अंकित किया गया है। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में, "निसंदेह गुजराती शैली के चित्र विषय और टेक्नीक में सर्वथा एतद्देशीय हैं। मध्यकालीन भारतीय चित्रण के प्रमाण और उदाहरण अनेक तो वस्तुतः मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। परंतु अधिकतर उनका संबंध अजंता की कला की भांति कथा-वार्ता से ही है।"[2] १५ वीं शताब्दी के पश्चात मुगल काल में भारतीय चित्रकला का जो पुनरुत्थान हुआ है, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

मुगल कालीन चित्रकला : पृष्ठभूमि-

चित्रकला संबंधी पूर्ववर्ती पृष्ठों के विवरण द्वारा स्पष्ट है कि युग की गति के साथ उसने मध्य युग तक उत्थान-पतन के अनेक युग देखे हैं। परंतु इस काल की पराधीनता एवं पराभव के युग में कलाकृतियों का जो उपहार विशेषकर भारतीय चित्रकला ने प्रस्तुत किया है वह

---

[1] इंडियन आर्ट थ्रू दि एजेज : पृष्ठ ७, शीर्षक–पेंटिंग।

[2] हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास पृष्ठ ६३५, शीर्षक–चित्रकला।

उसके सौन्दर्य-बोध तथा सांस्कृतिक जागरण का परिचायक है। कहना न होगा कि औरंगजेब को छोड़कर प्रायः सभी मुगल सम्राट पूर्वकालीन तुर्क सुल्तानों की अपेक्षा अधिक कला - प्रिय तथा उदार मनोवृत्ति के थे और इसके साथ ही इस युग की कला को प्रेरणा देने वाली दो मुख्य परिस्थितियों ने भी अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया :-

१. १५ वीं शताब्दी में भक्ति-आदोलन के उत्तर भारत में प्रचार एवं प्रसार ने तत्कालीन भारतीय जनता को अमर आश्वासन प्रदान करते हुये भारत की मौलिक कलाकृतियों के पुनरुद्धार तथा पनपने की प्रेरणा दी।

२. मुगल सम्राट स्वयं कला-प्रेमी थे। विशेषकर अकबर तथा जहाँगीर ने अपने दरबार में भारतीय तथा विदेशी कलाकारों को निमंत्रित करके भारतीय कला के विकास का उपर्युक्त अवसर प्रदान किया।

उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप मुगल काल में चित्रकला की जैसी उन्नति हुई वह अजंता को छोड़कर पहले कभी भी नहीं थी। इसके अतिरिक्त इन दोनों ही परिस्थितियों की प्रेरणा से इस की चित्रकला दो प्रधान शैलियों के माध्यम से प्रकाश में आई :-

१. राजस्थानी या राजपूत शैली।

२. भारत-ईरानी अथवा मुगल शैली।

राजस्थानी-शैली :

राजस्थानी चित्र-शैली अजंता तथा ११ वीं और १५ वीं शतियों के बीच प्रतिष्ठित गुजरात चित्र-शैली का विकसित रूप है। निश्चय ही

यह शैली मूलत: भारतीय प्रतिभा की द्योतिका होने के साथ साथ दिव्य प्रेम एवं आत्म-समर्पण को भावना से ओतप्रोत है। इसके पहले गुज-रात में जो चित्र बनते थे, वे प्राय: भोंड़े से लगते थे, परंतु राजस्थानी कला में आकर उनका सुथरा हुआ रूप निखर आया।[1] चित्र-शैली की मुगल कलम के अधिकांशचित्रों में दरबार का वैभव एवं विलासपूर्ण जीवन ही प्रतिबिम्वित हुआ है, परंतु इस शैली में भारत का लोक-जीवन सजीव होकर छलक आया है। उदाहरणार्थ जुलाहों, चर्मकारों, तथा बढ़ई इत्यादि के चित्र तत्कालीन कुटीर-उद्योगों के साथ साथ परंपरागत व्यावसायिक शिक्षा व संस्कार को निर्दिष्ट करते हैं। समाज जीवन के इन चित्रों के अतिरिक्त तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक-उद्‌बोधन का चित्रण भी इस शैली में अत्यंत सफलतापूर्वक हुआ है। अतएव यह निश्चित रूप से स्वीकार करने में किसी का आपत्ति नही होगी कि विषय की दृष्टि से भी यह मुगल शैली की अपेक्षा भारतीय जन-जीवन के अधिक निकट है। कहना न होगा कि १५ वीं शताब्दी में उठे हुये भक्ति-आंदोलन ने देश को अनेक नये विषय दिये। इन चित्रों में विष्णु के विविध अवतारों और उनमें भी विशेषत: राम और कृष्ण की विविध लीलामयी झाँकियों के साथ ही कतिपय देवी-देवताओं तथा प्रमुख संतों के सुंदर चित्र अंकित हुये हैं। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर तथा अजमेर आदि के राजवंशो में यह किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है जिससे हमें इस कला का आभास मिलता है। इसके प्राचीन उदाहरणों में अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान रूप से है।

राजपूत-शैली मूलत: विशुद्ध भारतीय होते हुये भी मुगल-शैली के प्रभाव से बच न पाई। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के मतानुसार[2]

---

[1] भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, १५ वा अध्याय, पृष्ठ १९२ कला

[2] हि. सा. का बृहद इतिहास पृष्ठ ६४६, चित्रकला.

विशेषतः चित्रगत वास्तु और राजस्थानी वेशभूषा पर मुगल कला और संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा है, यहाँ तक कि कतिपय राजस्थानी चित्रों पर तो यह प्रभाव इतना अधिक है कि देखने वाला भ्रम में पड़ जाता है। किन्तु रंगों के प्रयोग, भूमि की तैयारी तथा विषय-चयन में ये देशी परंपरा का ही अनुगमन करते हैं। इतना सब होते हुये भी राजस्थानी शैली का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। इसकी प्रेरणा भारतीय जन-जीवन के हृदय में गहराई से प्रविष्ट कर गई है और इतना ही नहीं अपितु उसने काव्य, संगीत तथा नाट्यकलाओं में सुंदर समन्वय स्थापित कर दिया है। संगीत एवं चित्रकलाओं के सुंदर समन्वय ने राजपूत चित्र-शैली को सभी की अपेक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण बना दिया है, जिसके साथ ही इसकी केन्द्रवर्ती प्रेम भावना ने राग-रागनियों के साथ संबंध स्थापित करके उत्कृष्टता की वृद्धि की है।

राजपूत शैली में नारी-जीवन का जो चित्रण हुआ है वह भारतीय आदर्शों के सर्वथा अनुकूल तथा पारिवारिक आदर्शों से युक्त है। नारी-सौन्दर्य के उपादान प्रकृति के उपकरणों से साम्य रखते हैं, परंतु इस बाह्य सौन्दर्य से भी बढ़कर इन चित्रों में हिंदू नारी का उत्सर्ग एवं भावनापूर्ण हृदय अंकित हुआ है। इसके अतिरिक्त राग-रागनियों के चित्रों में उनके प्रवहमान अवयव तक दिखाये गये हैं। इस शैली के साथ हिंदी-साहित्य का समन्वय स्थापित करते हुये डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है—"राजपूत शैली मध्यकालीन हिंदी साहित्य की प्रायः प्रत्येक प्रवृत्ति को चित्रित करती है। उसमें कला और साहित्य बोध का अद्भुत संयोग प्रस्तुत है।"[१]

शैली का प्रभाव :

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण इसने मुगल शैली को भी भलीभाँति प्रभावित करके एक प्रकार से अपने रंग में रंग सा दिया है। अकबर के

[१] हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास पृष्ठ ६४६, शीर्षक-चित्रकला।

दरबार में हिंदू कलाकार बसावन जिस कौशल से कूँची फेरता था वह दरबार स्थित बड़े बड़े ईरानी कलाकारों के लिये भी असंभव था।

सत्रहवीं शताब्दी से इस शैली के भिन्न रूप पाये जाने लगे-पहला राजस्थानी और दूसरे पहाड़ी। राजस्थानी शैली ने अपने मूल रूप को ही सुरक्षित रखा परंतु पहाड़ी शैली अपने मूल प्रवृत्ति के साथ स्थानीय प्रभाव को लेकर चली और कई बातों में राजस्थानी शैली से भिन्न सी हो गई। कहना न होगा कि उत्तर का पहाड़ी भाग अत्यधिक विस्तृत है। अतएव स्थानीय वैशिष्ट्य को लेकर इस शैली के भी दो भाग हो गये। पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश की चित्रशैली 'जम्मू', तथा लाहौर, अमृतसर से लेकर गढ़वाल तक विस्तृत प्रदेश में विकसित होनेवाली चित्र शैली 'कांगड़ा शैली' कहलाई। 'जम्मू शैली' के अधिकांश चित्रों का आलेखन जम्मू में हुआ। इसके चित्रों पर ठाकरी अछरों के लेख प्राप्त होते हैं, जिनमें रामलीला व रासलीला के अतिरिक्त रागमालायें भी राजस्थानी से भिन्नरीति से लिखी गई हैं।[1] इसके अतिरिक्त "अलंकार शास्त्रों के अनुकूल नायक–नायिका भेद भी इनमें चित्रित है जो रागिनी–चित्रों की भाँति साहित्य को चित्रकला के निकट खींच लाते हैं।"[2]

अभिव्यंजना की दृटि से द्वितोय-कांगड़ा शैली में हिंदू–प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है। डॉ. पी. के. आचार्य के मतानुसार यह प्रत्यक्ष रूप से अजंता के भित्ति-चित्रों की संतति है।[3] औरंगजेब के समय से राजकीय संरक्षण के अभाव में राजस्थान के कुछ कलाकारों ने जंमू पंजाब तथा कांगड़ा की घाटी में जाकर आश्रय ग्रहण किया और इस

[1] वही, शीर्षक–वही।

[2] वही, पृष्ठ ६४७, शीर्षक-वही।

[3] डॉ. पी. के. आचार्य, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २५० "आधारभूत कलायें चित्रकला.।

परिस्थिति ने इन दोनों शैलियों के विस्तार को अनुकूल अवसर प्रदान किया। इसके आश्रयदाताओं में कांगड़ा के १८ वीं शती के राजा संसारचंद का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। इनके शासन काल में कांगड़ा शैली चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई। इसमें अधिकतर राजवंश से संबंधित चित्र हैं जिनके अतिरिक्त कृष्ण चरित्र से संबंधित चित्रों की संख्या भी पर्याप्त है। पर्सी ब्राउन तथा अन्य आलोचकों के मतानुसार, कोमल रेखायें, चमकीले वर्ण और विस्तृत अलंकरण सामग्री की सूक्ष्मता इस शैली की प्रमुख विशेषतायें हैं। आगे चलकर १९ वीं शती में सिक्ख दरबार में कांगड़ा शैली को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। परंतु उसके पश्चात ही द्रुतगति से इसका पतन आरंभ हो गया।

मुगल या भारत-ईरानी शैली :

चित्रकला की यह शैली मुगल राजवंश और विशेष कर सम्राट अकबर के शासन की देन है। उसके पूर्ववर्ती सम्राट बाबर और हुमायूं कलाप्रेमी अवश्य थे परंतु भारत में अपनी सत्ता स्थापनार्थ युद्धों में ही निरंतर संलग्न रहने के कारण इस दिशा में कुछ करने का उन्हें समय ही न मिला। चौसा के युद्ध में शेरशाह से परास्त हुये हुमायूं ने कुछ वर्ष वहां के सम्राट के आश्रय में बिताये थे अनुकूल अवसर पाकर जब वह भारत लौटा तब अपने साथ वह अब्दुस्समद और मीर सैयद अली नामक दो कलाकारों को लाया था, परंतु अपने साम्राज्य की पुनर्प्रतिष्ठा के बाद अधिक दिन जीवित रहना उसके भाग्य में न था। अकबर ने अपने सुव्यवस्थित शासन के युग में इसका अवश्य लाभ उठाया। उसके दरबार के प्रसिद्ध चित्रकार फर्रूख, अब्दुल समद और मीर सैयद अली आदि ने ईरानी शैली के सुंदर चित्र प्रस्तुत किये। इसके अतिरिक्त समरकंद और हेरात की भी चित्रशैली का इसमें समावेश हुआ। इतना ही नहीं, अकबर ने भारत के विविध प्रदेशों के सैकड़ों कलाकारों को आमंत्रित किया जिनमें से मुख्यत: बसावन, दसवंत और केशवदास आदि ने

इस दिशा में अत्यधिक ख्याति प्राप्त की। कहना न होगा इस महान समन्वय के परिणाम स्वरूप चित्रकला की एक नवीन शैली का विकास हुआ जिसमें भारत और ईरानी शैलियों का अपूर्व समन्वय किया गया। दरबारी होने के कारण इसे 'भारत ईरानी शैली' भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि मुगल शैली के चित्रों के निर्माण का आरंभ हुमायूं के समय में भले ही हुआ हो, परंतु उसके स्वरूप की वास्तविक प्रतिष्ठा सम्राट अकबर द्वारा ही हुई थी। अकबर ने फतहपुर सीकरी का निर्माण करने के पश्चात् वहाँ के कमरों, और विशेषतः शयनागार में भित्तिचित्र बनवाये। "अनेक भारतीय ईरानी चित्रकारों ने उस प्रासाद परंपरा को सजाया। उसके दरबार का हाता और आवासों की दीवारें तस्बीरों से ढक गईं। रूप उन चित्रों का भित्ति चित्रों का सा था, शैली लघु-चित्रों को।[1] परंतु भित्तिचित्रों की अपेक्षाकृत कागज पर बने हुये चित्रों की अधिकता इस काल में रही। अकबर ने अपने दरबार में राजस्थानी तथा ईरानी शैलियों के उतमोत्तम कलाकारों को एकत्र किया था, परंतु सभी का आधार भारतीय भावना का ही था। इस सुल्तान ने हिंदु मुसलमान में भेदभाव न रखते हुये केवल कलात्मक प्रतिभा के ही आधार पर कलाकारों का मूल्यांकन किया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि उसकी उदारता ने इस दिशा में स्वदेशी प्रतिभा को जाग्रत करने में बड़ी सहायता की। " चित्रकारों को उसने ओहदा और धन दोनों को समान रूप से प्रदान किये। आगरा और दिल्ली में बड़े बड़े राजकीय ग्रंथागार स्थापित हो गये। केवल आगरे के संग्रहालय में २४००० के लगभग ग्रंथ थे।[2] " इन ग्रंथों को कलात्मक हाशिया-बंदी तथा स्यतंत्र चित्रमय पृष्ठों से भर दिया गया।

[1] हि. सा. का वृहद् इतिहास, पृष्ठ ६४१, शीषक-चित्रकला
[2] वहीं शीर्षक–वही।

कहना न होगा कि मुगल शैली के अधिकांश चित्र दरबारी जीवन तथा उसके वातावरण से संयुक्त हैं। इनमें मुगल वैभव का शानदार चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त इस युग में लिखे गये संस्कृत और फारसी के ग्रंथों को अनेक भावपूर्ण चित्रों से सुसज्जित किया गया। ग्रंथों के पृष्ठों के दोनों किनारों पर अंकित किये गये चित्रों में तैमूर राजवंश का क्रमबद्ध इतिहास चित्रित हुआ है जो आज भी बाँकीपुर में सुरक्षित है। महाभारत के पृष्ठों पर जयपुर के कलाकारों द्वारा अंकित १६९ चित्र 'रम्ज़ानामा' के नाम से संग्रहीत हुये, जिनके अतिरिक्त 'हम्ज़ानामा' नामक प्रेमगाथात्मक ग्रंथ में कपड़ों पर १३७५ चित्र अंकित हुये हैं अकबर के संरक्षण में पल्लवित चित्रकला अनेक प्रकार के सहस्त्रावधि चित्रकारों के सामूहिक प्रयत्नों का परिणाम है, जिसमें राजस्थानी तथा ईरानी शैलियों के प्रायः सभी उत्कृष्ट तत्व आ गये हैं। बसावन तथा दशवंत आदि के प्रभाव से दरबारी शैली में भारतीय व्यक्तित्व अधिक उत्कृष्ट रूप में निखर आने के साथ साथ प्रधानता भी पा गया है। इस शैली के चित्रों में दरबारी वातावरण प्रमुख रूपेण अंकित होने के कारण यह निसंदिग्ध रुप से स्वीकार किया जा सकता है कि यह शैली देश के जनजीवन से दूर रही, परंतु जहाँतक कलात्मक उत्कृष्टता का प्रश्न है वहाँ इसकी उत्कृष्टता को किसी भी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता।

इन चित्रों के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि बहुधा एक चित्र को एक ही चित्रकार बनाता था, परंतु आवश्यकतानुसार कभी कभी एक ही चित्र दो तीन कलाकारों द्वारा भी संपन्न होता था। इस युग में साहित्य और कला में जितना निकट का संबंध स्थापित हुआ है, वह निश्चय ही अभूतपूर्व है। 'अकबर–नामा' का निर्माण अमीर दानिश तथा अन्य

असंख्य कलाकारों द्वारा संपन्न हुआ है और प्रायः उसका प्रत्येक चित्र एक से अधिक कलाकारों के सहयोग से बना है ।[१]

अकबर का उत्तरकाली सम्राट जहाँगीर चित्रकला में विशेष अभिरूचि रखने के साथ साथ उच्च कोटि का कलामर्मज्ञ भी था । एक प्रसंग पर उसने स्वयं गर्व के साथ कहा था कि " मुझे चित्रों की इतनी परख है कि मैं किसी भी चित्र को देख कर उसके चित्रकार का नाम बता सकता हूँ और इतना ही नहीं बल्कि एकही चित्र के अनेक चित्रकारों द्वारा निर्मित होने की अवस्था में भी उसके अलग-अलग भागों के तत्संबंधी चित्रकार की पहिचान कर सकता हूँ ।" जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में इस कला-शैली की अत्यधिक उन्नति हुई । समरकंद से भी अनेक कलाकार बुलाये गये ।

'मुगल शैली' की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुये डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है कि 'मुगल शैली' में प्रधानतः प्रतिकृति चित्रण हैं, जिसके चरम विकास ने डिजाइन और अलंकरण को शिथिल कर दिया ।[२] इसी प्रकार पक्षियों के चित्रण में मुगल चित्रकारों ने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया । कलकत्ते की आर्ट गैलरी में रखे जहाँगीर के बनवाये मुर्गे के चित्र का सौंदर्य चीनी चित्रकार भी मूर्त न कर सके। शाहजहाँ के काल के प्रिय चित्र आलेख्य 'लला-मजनूं', 'शिरीं-खुसरू', 'कांता-कामरूप' और रूपमती - बाजबहादुर थे ।[३] शाहजहाँ के पश्चात् औरंगजेब ने इस दिशा में कोई रूचि न दिखाई और उसकी मृत्यु के पश्चात विशाल मुगल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो चला । अतएव

---

[१] इंडियन आर्ट थ्रू द एजेज, पृष्ठ १० 'पेंटिंग '।

[२] हि. सा. का वृहद इतिहास पृष्ठ ६४३, ६४४. " चित्रकला. "

[३] वहीं, पृष्ठ ६४५. शीर्षक वही ।

मुगल शैली को केंद्र का संरक्षण नहीं प्राप्त हुआ। ऐसी परिस्थिति में अधिकांश कलाकार नव-प्रतिष्ठित हिंदू-मुसलमान शासकों के दरबारों में आश्रय ग्रहण कर भारत के विविध प्रदेशों में बिखर गये। जहाँ कहीं भी यह शैली गई वहाँ का स्थानीय प्रभाव भी ग्रहण करती गई और इस प्रकार अनेक प्रांतीय शैलियाँ विकसित हो गईं। दक्षिण की 'प्रतिकृति शैली' मुगल कलम से प्रभावित प्रांतीय शैली है। इसमें सैंकड़ो चित्र उपलब्ध हैं, जो वहाँ के नवाबों, सुल्तानों और अमीर-उमरों के हैं। इसके केंद्र बीजापुर और हैदराबाद बने। इसके अतिरिक्त दक्षिण की अधिकांश चित्रकला शैलियाँ हिंदू शैली के अधिक निकट की है। कालांतर में तंजौर और मैसूर में अलग अलग दो शैलियों का विकास हुआ, जिसमें 'राजपूत शैली' का 'तंजौर स्कूल' शिवाजी के शासन काल में उत्कर्ष को प्राप्त हुआ।[1] इन चित्रकारों ने हाथी-दाँत और लकड़ी पर अनुपम कार्य करने के साथ व्यक्तिओं के विशाल तैल-चित्र भी बनाये। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुगल शैली की चित्रकला १८ वीं शती के बाद से क्रमशः ऱ्हासोन्मुखी होती गई। १९ वीं शताब्दी में इसका जो स्वरूप अवशिष्ट रहा उसपर योरोपीय कला का बहुत प्रभाव पड़ा।

आधुनिक काल :

१९ वीं शती में मुगल चित्र शैली की अवशिष्ट हीनावस्था के क्षेत्र में यूरोपीय चित्रकला के प्रवेशने नवीन अध्याय का श्री गणेश किया। इसके साथ ही १९ वी शती के अंतिम दशम में अवनींद्र नाथ टैगोर के नेतृत्व में अधोगति की ओर जाती हुई भारतीय चित्रकला को पुनरूज्जीवित किया गया।[2] और आगे चलकर फ्रांस की कला प्रवृत्ति के प्रभाव ने

---

[1] डॉ पी. के आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २५१, चित्रकला।
[2] वहीं, पृष्ठ २५१, २५२, शीर्षक-वही।

एक अन्य चित्र शैली को भी जन्म दिया।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल में तीन चित्र–शैलियों का विकास हुआ पहली यूरोपीय कला से प्रभावित, दूसरी पुनर्जागतिक, तथा तीसरी प्रगतिशील।

वैसे तो मुगल काल से ही भारतीय चित्रण पर युरोपीय प्रभाव पड़ने लगा था, परंतु देशी प्रतिभा को वह वैसा आक्रांत न कर सका, जैसा कि १९ वीं शती में आकर उसका एक प्रकार से दूषित प्रभाव पड़ गया।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि उसमें भारतीय कला की भाव–प्रवणता के स्थान पर यूरोपीय शैली की कुरूचिप्रियता आ गई। त्रावणकोर के राजा रविवर्मा तथा मदुरा के रामस्वामी नायडू के चित्र इसी श्रेणी के हैं।[3]

राष्ट्रीयता की जाग्रति ने १९ वीं शती के अंतिम दशक में कला के क्षेत्र में नवजीवन का संचार कर दिया और अवनीन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में बंगाल के चित्रकारों ने एक नवीन शैली को जन्म दिया जो विशुद्ध रूप में भारतीय है। डॉ. पी. के. आचार्य के शब्दों में ये चित्रकार भारतीय परंपरा से प्राप्त चित्रकला के उस स्वरूप को ग्रहण करके बढ़ना चाहते हैं जो कि हमारे सामने से पिछली शताब्दियों में अंतर्निहित हो गया है और यूरोपीय तत्वों को अधिकाधिक ग्रहण करने के कारण अपनी आत्मा को खोता जा रहा है। इस प्रकार वे अजंता के भित्ति-चित्रों की शैली तथा मुगल और राजपूत स्कूल के स्वल्पाकार चित्रों की शैली-इन विभिन्न प्राचीन भारतीय शैलियों का अभ्यास कर रहे हैं।"[4]

---

[1] हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास पृष्ठ ६४७, शीर्षक–चित्रकला, ले. डॉ. भगवतशरण उपाध्याय.

[2] वहीं, पृष्ठ ६४७, ६४८ शीर्षक वही।

[3] वहीं, पृष्ठ ६४८, शीर्षक–वही।

[4] डॉ. पी के. आचार्य : भा. संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २५२, शीर्षक-चित्रकला

कला के क्षेत्र में यहाँ नवीन पुनर्जागरण एक प्रकार से देश व्यापी सा हो उठा, परंतु उसका सर्वाधिक प्रभाव बंगाल के चित्रकारों पर पड़ा। इन लोगों ने रामायण, महाभारत, गीता, पुराण तथा कालिदास के ग्रंथों से भारतीय-इतिहास की घटनाओं के चित्र अंकित किये हैं। अवनींद्र नाथ टैगोर के अनेक अनुयायी इस दिशा में बढ़े और उन्होंने सुंदर कलाकृतियाँ प्रस्तुत कीं जिनमें से नंदलाल बोस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त अनेक कलाकार पैरिस आदि में भी कलाभ्यास कर चुके थे, और उधर भारतीय रजवाड़ो में भी फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों की शैली पर चित्र बनवाने तथा उनका संग्रह करने की अभिरुचि बढ़ चली। बड़ौदा के संग्रहालय में ऐसे चित्रों का उत्तम संग्रह वर्तमान है। फ्रांस की कलाप्रवृत्तियों के संपर्क में आने वाले भारतीय कलाकारों ने नये प्रयोग आरंभ किये। गाँवों के चित्र नई पद्धति से नई आस्था और सवेदना से वे बनाने लगे। सामाजिक यथार्थवाद का यह नया जन परक प्रगतिशील संसार भारतीय चित्रभूमि पर उतर चला। सन् १९४७ से स्वतंत्रता प्राप्ति करके भारतीय गणराज्य में कलाओं को यथाशक्ति प्रोत्साहन दिया जा रहा है। अतएव आशा है कि भारतीय चित्रकला पुन: अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगी।

४. संगीत कला

सामान्य रूप से आनंद और उल्लास के क्षणों में गा उठना मानव मात्र की सामान्य प्रवृत्ति है, जिसके मनोवैज्ञानिक आधार पर पुस्तक के प्रारंभ में ही विचार किया जा चुका है। उपर्युक्त प्रवृत्ति के साथ ही प्राकृतिक शक्तियों में दिव्यत्व का अनुभव करके सामूहिक गीत एवं नृत्य के आयोजन भी आदि कालीन मानव समाज में होते थे। नृतत्व विशेषज्ञों के मतानुसार आदि मानव के बर्बर शिकारी तथा यत्र तत्र विचरण करनेवाले खाना-बदोशी जीवन में भी संगीत तत्व का स्थान था।[१] इसका परिचय हमें प्राचीन काव्य तथा लोक-गीतों की संगीत मयता में भी मिलता है। आदि काल में प्राकृतिक देवताओं को रिझाने व प्रसन्न करने के लिये अथवा उनकी विपत्तियों से त्राण पानेके लिये सामूहिक नृत्य एवं सामूहिक गीतों की सृष्टि हुई और यही गीत लोक-रूचि में प्रारंभ से प्रतिष्ठित रहें हैं, यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है। कालांतर में समाज के सुसंस्कृत वर्ग द्वारा ये परिपुष्ट होकर शास्त्रीय गीतों में विकसित हुये। उल्लास में या कल्याण कामना से गा उठना गान अवश्य उत्पन्न करता है, परंतु उसे कला नहीं कहा जा सकता।

---

[१] फ्रैंज बोआस, जेनरल ऐंथ्रोपालाजी अध्याय १२, पृष्ठ ५८९ शीर्षक- "लिटरेचर-म्युजिक ऐंड डान्स"

कला में एक व्यवस्थित प्रयत्न की अपेक्षा रहा करती है । संगीत कला के क्षेत्र में भी यही प्रक्रिया हुई । चिंतन का सम्य सहारा पाकर प्राचीन काल में ही एक पद्धति का उदय हुआ और धीरे धीरे गीत, नृत्य और वाद्य के संयोग से उसने कला का रूप धारण किया ।

भारतीय संगीत का उद्भव :-

भारतवर्ष में उपर्युक्त पद्धति का सूत्रपात कब से हुआ होगा यह नहीं कहा जा सकता । हमें इसका प्रारंभिक प्रमाण ऋग्वेद में ही मिलता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद काल में जिस संगीत की सृष्टि हुई होगी, वही हमारा प्रारंभिक संगीत है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं में सुरक्षित है । ऋग्वेद में यह उल्लेख मिलता है कि गंधर्वों ने संगीत को आराध्य मान कर पेशे के रूप में इस कला को विकसित किया था । इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय संगीत का स्वतंत्र रूप से अस्तित्व अवश्य रहा होगा । इस काल में संगीत की शास्त्रीय-पद्धति का क्या रूप रहा होगा, यह नहीं कहा जा सकता । परंतु उपर्युक्त गान–विद्या–पारंगत गंधर्व-जाति के अतिरिक्त खुले मैदान में स्त्री–पुरुषों का उत्साह पूर्वक नृत्य गान में भाग लेने एवं सितार बांसुरी, ढोल इत्यादि वाद्य यंत्रों के प्रचलन[1] इस तथ्य के स्पष्ट परिचायक हैं कि उस समय भारतीय संगीत सुव्यवस्थित मात्रा में अवश्य रहा होगा । वेद आर्यों का पवित्रतम ग्रंथ होने के कारण उसके मंत्रों का गान एक विशेष पद्धति से होना अनिवार्य था । सामवेद में मंत्रों की संगीतात्मकता का विशेष ध्यान रखने के कारण वह एक प्रकार गानबद्ध बन कर प्रस्तुत हुआ ।

---

[1] ऋग्वेद १।१९२।४। ।६।२९।३। ।७।५८–९। ।८।२०।२२। ।९।१।८। । ५।२२।१२। ।

उद्गातृ उसका विशिष्ट गायक बना। कुछ काल बाद गंधर्व वेद का प्रणयन हुआ जिसमें पहली शास्त्रीय पद्धति निरुपित हुई।"[१]

महा काव्य काल :-

आगे चल कर इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि रामायण और महाभारत की रचना काल में संगीत कला का सुंदर विकास हो चुका था। राम के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर लव और कुश द्वारा रामायण के कल-गान से ऋषि-मुनि तथा सहृदय नागरिक अत्यंत प्रभावित हुये थे। वाल्मीकि रामायण द्वारा पता चलता है कि उस समय काव्य और संगीत में सुंदर समन्वय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। महाकाव्य कार ने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि, संगीत प्रधान काव्य में शब्दावली पढ़ने और गाने दोनों के अनुरुप मधुर होनी चाहिये (पाठये गेये च मधुरम्) अर्थात् वह ऐसी लचीली, अक्लिष्ट और प्रांजल होनी चाहिये कि पाठ और गान दोनों के अनुरूप ढाला जा सके। काव्य का संगीत ध्वनि और ताल के अनुसार ऐसा होना चाहिये कि सातों स्वर–समूह में उसे बांधा जा सके। वह वीणा बजा कर स्वर ताल के साथ गाने योग्य तथा श्रृंगार करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर आदि सभी रसों से ओत-प्रोत होना चाहिये।[२]

तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक जीवन में संगीत का इतना महत्व था कि नागरिक जीवन का यह अभिन्न अंग बना हुआ था। कहना न होगा कि संगीत और वाद्य दोनो रूपों में संगीत का सेवन मनोरंजन का सर्वाधिक प्रमुख साधन था। राजा-प्रजा, नर-नारी, आर्य-वानर-राक्षस आदि

---

[१] हि. सा. का वृहद इतिहास पृष्ठ ६५१. शीर्षक – "संगीत" ले. डॉ भगवतशरण उपाध्याय।

[२] वाल्मीकि रामायण १।२।४।

समाज के सभी वर्गों में संगीत को प्रथम स्थान मिलता था। उत्सव और समारोहों में ही नहीं, अपितु नागरिकों के दैनिक जीवन में भी उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।[१] राज समाज का जीवन तो संगीत की माधुरी से परिप्लावित सा था। दशरथ, राम, भरत और रावण प्रतिदिन पौ फटते ही वाद्य-यंत्रों की ध्वनि तथा सूत-मागधों की स्तुतियों से जगाए जाते,[२] राजकीय जुलूसों में संगीतज्ञ आगे आगे चला करते[३] और अंत्येष्टि के समय भी वाद्य यंत्र बजाये जाते थे।[४] इसी प्रकार बनवास से लौटने राम का कुशल वादकों द्वारा शंख और दुंदुभियों से स्वागत किया जाना वाद्य कला के समुचित विकास का परिचय देता है। शांति की परिस्थिति के अतिरिक्त युद्धों में संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त था, जिसे "युद्ध गांधर्वम" (६।५२।५४) कहते थे। सेनायें भाजे-बाजे के साथ कूच करतीं और विजय के पश्चात भी उसका प्रयोग होता था।

नागरिक जीवन के अतिरिक्त बनवासी तपस्वियों के बीच भी संगीत कला को स्थान प्राप्त था। वाल्मीकि रामायण के चौथे सर्ग में सप्तर्षियों के आश्रम में राम को दिव्य गंध का अनुभव होने के साथ साथ तूर्य का घोष तथा गीतों की मधुर ध्वनी सुनाई पड़ी थी। इसी प्रकार भरद्वाज आश्रय में भरत की सेना के स्वागतार्थ समवेत संगीत का अपूर्व आयोजन हुआ था। इस ग्रंथ में यह भी उल्लेख मिलता है कि उसकी रचना के पहले राम के जो पूर्व चरित्र काव्य-वद्ध किये गये, उनका गान वीणा के लय के साथ तथा व्याकरण और संगीत शास्त्र के लक्षणों के अनुसार

---

[१] डॉ. शांतिकुमार नानूराम व्यास – "रामायण कालीन संस्कृति" पृष्ठ १०२।

[२] दृष्टव्य वाल्मिकी रामायण २।६५।१–४, २।८८।८.

[३] वहीं. ६।१२८।३७.

[४] वहीं ६।१११।१०८।

गानवोचित ताल के साथ गाया गया था। रामायण में वाद्य-यंत्रों को चार भागों में विभाजित किया गया है। तार वाले वाद्यों को तंतु, ढोल की तरह पीटे जाने वालों को आनद्ध, साँस से संचालित सुषिर और बजाये जाने वाले घन कहलाते हैं। इन चारों श्रेणीयों में अनेक प्रकार के वाद्य यंत्र थे।[१] उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि इस काल का संगीत शास्त्रीय आधार प्राप्त कर एक उत्कृष्ट कला के रूप में विकसित हो चुका था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार संगीत को गांधर्व और संगीत शास्त्र को "गांधर्व शास्त्र" कहते थे, जिसके अंतर्गत गीत तथा वादित्र (वाद्य-गान दोनों ही समाविष्ट थे। गान भी दो प्रकार के थे -मार्ग और देशी। भिन्न भिन्न प्रदेश की भाषाओं में गाये जाने वाले गान को देशी और समूचे राष्ट्र में प्रचलित संस्कृत जैसी भाषा का आश्रय लेकर गाया हुआ गान मार्ग के नाम से पहचाना जाता है।[२] वर्तमान काल में मार्ग पद्धति लुप्त हो चुकी है और देशी पद्धति का ही प्रचलन है। इससे यह ज्ञात होता है कि, प्राचीन भारत में संगीत का प्रसार इतना व्यापक हो चुका था कि उस कला में पारंगत लोगों का वर्ग-विशेष (गंधर्व) तक बन चुका था।

वाल्मीकि के पश्चात भरत मुनि से "नाट्य शास्त्र" में अभिनय का संगीत से अविच्छिन्न संबंध होने के कारण संगीत की विशद व्याख्या की गई है। इस पश्चात्कालीन वात्सायन के 'काम-सूत्रों' (द्वितीय तृतीय शताब्दी ईस्वी) द्वारा पता चलता है कि गीत, वाद्य, नृत्य आदि कलाओं का सीखना नारी-शिक्षा का प्रमुख अंग था।[3] नागरिक जीवन

---

[१] डॉ. शांतिकुमार नानूराम व्यास – "रामायण कालीन संस्कृति" पृष्ठ १०५ से १०७ तक।

[२] वही पृष्ठ २०४, शीर्षक–' कला कौशल '

[3] कामसूत्र १।३।१६–२४।

का वर्णन करते हुये वह लिखता है कि गाने-बजाने, गपशप और साहित्य चर्चा के लिये गोष्ठियाँ होना आवश्यक है।[1] इस ग्रंथ के आधार पर डॉ. बेनी प्रसाद ने यह भी अनुमान लगाया है कि वेश्यायें भी कलाओं में निपुण होती और गोष्ठियाँ करती थी।[2] विवाह आदि के मांगलिक अवसरों पर गान-वाद्य के आयोजन प्रमुख रूप से हुआ करते थे। आगे चल कर गुप्त वंशीय शासन काल में संगीत कला के यथेष्ट विकास के अनेक उदाहरण मिलते हैं। सम्राट स्कंद गुप्त स्वयं संगीत कला विशारद था, जिसका परिचय प्राप्त सिक्कों में अंकित वीणा धारण किये हुये उसकी मुद्राओं से मिलता है। कालिदास के काल में संगीत कला की स्थिति पर प्रकाश डालते हुये डॉ भगवत शरण उपाध्याय ने लिखा है कि कालिदास ने अपने "मालविकाग्निमित्र" नाटक के पहले और दूसरे अंकों में संगीत अभिनय के कला सिद्धांत पर विस्तृत कथनोपथन कराया है, और इसी प्रसंग पर उसने मूर्च्छना, राग आदि के संकेत के साथ ही वीणा (अन्याय पर्याय-परिवादिनी, वल्लकी, तंत्री, सुतंत्री), वेणु (वंशकृत, वंशी), मृदंग (पुष्कर, मुरज) तूर्य, शंख, दुंदुभी और घंटा का भी उल्लेख किया है।[3] कविकुलगुरू कालिदास के पश्चात्कालीन साहित्य में भी सामाजिक जीवन के अंतर्गत नृत्य संगीत के महत्वपूर्ण स्थान संबंधी अनेक निर्देश मिलते हैं, परंतु इस कला का शास्त्रीय विवेचन करने वाले शुद्ध गायन के ग्रंथ ११ वीं शती से पहले नहीं मिलते।

---

[1] वहीं १।४।४-३३ ।

[2] हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ २५७ मौर्य काल के बाद।

[3] हि. सा. का बृहद इतिहास पृष्ठ ६५२, शीर्षक – संगीत, ले. डॉ. भगवतशरण उपाध्याय।

शास्त्रीय ग्रंथ :

अतिप्राचीन काल से ही समाज जीवन के बीच संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के निर्देश तो उपर्युक्त प्राचीन साहित्य में मिलतें हैं, परंतु शास्त्रीय विवेचन के ग्रंथों की रचना के उदाहरण मध्ययुग (११ वी शताब्दी के पश्चात्) मिलने के कारण यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संगीत के शास्त्रीय रूप का सांगोपांग विकास या कम से कम उसकीं शास्त्रीय विवेचना मध्य युग की ही देन है। संगीत कला संबंधी शास्त्रीय विवेचन की प्रारंभिक पुस्तको में लोचन कवि की राग तरंगिणी (रचना काल १२ वीं शती) तथा शार्ङदेव का 'संगीत रत्नाकर ' (रचना काल १३ वी शताब्दी) के नाम आते हैं।[१] इसके पश्चात् "रागमाला" "राग मंजरी" और 'सद्रागचंद्रोदय' प्रस्तुत हुयें। सोमनाथ का 'राग विबोध' १६६७ में रचा गया, दामोदर मिश्र का "संगीत दर्पण" १६२२ में, अहोबल का "संगीत पारिजात" और पीछे। 'अनूप विलास', 'अनूपांकुश' और 'अनूप तंत्र भावभट्ट नें १८ वीं शती के आरंभ में रचे। १८ वीं, १९ वीं शती में अवध के नवाबों की संरक्षा में मुहमद रजा ने "नगमये असफी" लिखा। इसी में शुद्ध बिलावल की व्याख्या हुई जो कभी का हिंदुस्तानी संगीत का आधार बन चुका था। उन्हीं दिनों जयपुर के महाराज प्रतापसिंह ने संगीत के सारे विशेषज्ञों को एकत्र करके उनकी सहायता से "संगीतसार" का प्रणयन किया। कृष्णानंद व्यास ने १९ वीं शती में "संगीत कल्पद्रुम" लिखा। उस शती के अंत में नवाब रामपुरे का दरबार संगीत के आधुनिक विकास में बड़ा प्रयत्नशील हुआ।.........इस दिशा में उर्दू का "मारिफ़ाते नगमात" अच्छा प्रयास है।"[२] डॉ. उपाध्याय द्वारा निर्दिष्ट

[१] वहीं, शीर्षक–वही।

[२] वहीं, शीर्षक-वही।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त भावभट्ट के पहले ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर द्वारा रचित "मान कुतूहल" नामक ग्रंथ भी मिलता है, जिसका संपादित संस्करण विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर से प्रकाशित हो चुका है। इधर भातखंडे ने प्राचीन भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का बीडा उठाया और अनेक ग्रंथ लिख कर संगीत की मुरझाती पौंध को सींच कर हरा किया है [1] उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भारतीय संगीत के शास्त्रीय विकास, तथा उसकी सम्यक् प्रतिष्ठा प्रमाणित है, अतएव उसपर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा।

मध्य काल और संगीत कला :-

पूर्वकालीन रुप :- पूर्ववर्ती पृष्ठों में संगीत कला की प्रतिष्ठा संबंधी जिन प्राचीन ग्रंथों में निरुपण संबंधी उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं, उनके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि प्राचीन आर्य शासक कला मर्मज्ञ थे और उनके राज्यों में बड़े बड़े संगीत कला विशारद आश्रय पाते थे। इसके साथ ही प्रेम और शृंगार का कलात्मक जीवन में विशेष महत्व होने के कारण ये दोनों प्रवृत्तियां यहां की धर्मनिष्ठ भावना के साथ ही साथ संगीत में भी अवतरित हुई थीं। राजकुमारों को भी संगीत सिखाने की व्यवस्था थी। प्रातःकाल राजाओं को संगीत की मधुर स्वर लहरियों से जगाने के साथ ही, जन्म विवाह आदि अवसरों पर भी समृद्धिशाली लोक गणिकाओं को नृत्य-गान के लिये बुलाया जाता था। अनेक प्राचीन चित्र भी यह प्रमाणित करते हैं वीणा, वेणु, डफ, मृदंग, भंग आदि का प्रयोग प्रचुरता से होता था। आगे चलकर ईस्वी सन् की पांचवी छठी शती में नवीन रागों, नवीन छंदो और नवीन भावों से प्रेरित होकर एक भाषा का जन्म भारत में हुआ था, जिस में सर्वप्रथम दंडी ने शास्त्रीय नियमों के आधार पर भारतीय संगीत को

[1] वही, शीर्षक वही

मुखरित किया। इसी काल के मतंग मुनि ने इस देशी संगीत को उस सीमा तक विकसित पाया कि उन्हें अपनी पुस्तक "बृहद्देशी" में उसका वर्गीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।[१] उसके अनुसार 'गोपाल' नामक (दंडी ने इसे "आभीरादि" कहा है) जन भाषा में संगीत प्रस्तुत करने वाला वर्ग था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पांचवी छठी शताब्दी से लेकर मुसलमानों की राज्य की स्थापना तक देशी भाषा में संगीत शास्त्रों के नियमों के आधार पर गेय साहित्य का किसी न किसी रुप में सृजन होता रहा। स्थानीय विशेषतायें संगीत को प्रभावित कर के उसे स्वतंत्र अस्तित्व भी प्रदान किया था। पूर्वांचल के जयदेव और विद्यापति की रचनाओं में उसी पर आधारित संगीतात्मकता का प्रवेश हुआ था। पंडित हरिहर निवास द्विवेदी का विचार है कि १३ वीं शताब्दी तक (१३ वी शताब्दी के प्रारंभ में मुसलमान शासन एवं शक्ति की प्रतिष्ठा का श्री गणेश गुलामवंशीय शासन के रुप में हुआ था, मध्य देश को अपनी पृथक परंपरा थी जो की पूरब की धारा से बहुत कम प्रभावित थी, और उधर पश्चिम तथा मध्य देश में वैष्णव धर्म के प्रभाव के कारण जो संगीत पनप रहा था उसने भाषा और साहित्य को प्रभावित किया।[२] इसके अतिरिक्त एक अन्य परिस्थिति ने भी मध्य युगीन संगीत को अनुप्राणित करना आरंभ किया और वह है भारत में मुसलमान सुल्तानों के शासन की प्रतिष्ठा।

मध्य कालीन संगीत :-

कहना न होगा कि मध्य युग में १३ वीं शती के प्रारंभ से ही (१२०६ ईस्वी से) मुस्लिम शासन एवं शक्ति की प्रतिष्ठा ने देशगत

[१] 'देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिर्देशीति संज्ञितः'।

[२] मध्य देशीय भाषा (ग्वालियरी) पृष्ठ ७१, ७२।

राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति में एक नया परिवर्तन ला दिया, जिनसे उत्पन्न हुई समस्याओं ने हमारे जीवन के स्वाभाविक सौंदर्य को एक प्रकार से छीन लिया। एक ओर भारत राजनैतिक संघर्षों का केंद्र बना और दूसरी ओर विदेशी प्रभाव ने भी उसे आक्रांत कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि कम से कम उत्तर भारत में संगीत कला के क्षेत्र में घोर शिथिलता आ गई और आगे चल कर विदेशी आधिपत्य ने यहाँ की अनेक संगीत परंपराओं को बदल सा दिया। फलतः उत्तर और दक्षिण भारत के संगीत की एक रूपता लगभग इसी काल से टूट जाती है क्योंकि दक्षिण भारत कई शताब्दियों तक उक्त प्रभाव से अछूता रहने के साथ साथ उत्तर की राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं से बिलकुल अलग सा हो गया था। अतएव तब से लेकर आज तक दोनों प्रदेशों का संगीत एक दूसरे से पृथक रूप मे विकसित होता आ रहा है। प्राचीन संगीत का रूप केवल दक्षिण भारत में ही मिलता है। उत्तर भारत में जो संगीत आज विद्यमान है, वह विशुद्ध भारतीय संगीत नहीं है। उस में कई विदेशी शैलियों का मिश्रण होने के कारण आज भारतीय संगीत की दो शैलियां बन गई हैं। एक उत्तर भारत की हिंदुस्तानी पद्धति और दूसरी दक्षिण भारत की कर्नाटकी पद्धति। कहना न होगा कि दोनों शैलियां एक दूसरे से स्वरूप तथा शास्त्रीय नियमों दोनों ही दृष्टियों से भिन्न है।

मध्य काल में आकर जिस विदेशी प्रभाव के परिणाम स्वरूप एक नई शैली के विकास का निर्देश किया गया है वह भारतीय और ईरानी कला का मिश्रित रूप है। इस नवीन शैली के सर्व प्रथम उन्नायक अल्लाउद्दीन खिलजी के राज दरबारी कवि अमीर खुसरो कहे जाते हैं जो कि अपने समय में फारसी अरबी के अद्वितीय विद्वान तथा संगीत के आचार्य थे। "उन्होंने भारतीय संगीत में भी फारसी गायकी और

नाजुक ख्याली का प्रादुर्भाव किया तथा भारतीय और फारसी राग मिला कर मुल्तानी, गारा, साजगिरी, जीलफ़ और सरपरदा जैसे रागों की सृष्टि की।[१] तब से लेकर १५ वीं शती के प्रारंभ होने तक यह ख्याल गायकी दिल्ली में अत्यधिक प्रचलित रही जो उसके पश्चात् अन्य प्रदेशों तक भी पहुँची। इन ख्यालों की भाषा हिंदी ही होती थी, परंतु बीच बीच में फारसी के शेर भी मिला दिये जाते थे। दिलरूबा, सारंगी, सरोद तबला, सितार, ढोल जैसे वाद्य भी हमें अमीर खुसरो से ही प्राप्त हुये।[२] भारतीय रागों की ईरानी साँचे में ढालने की यह प्रक्रिया जिस के प्रारंभिक पुरस्कर्ता अमीर खुसरो कहे जाते हैं, दिल्ली के आस पास तक ही सीमित न रही। आगे चल कर जौनपुर के सुल्तान हुसेन शर्की का यह प्रिय राग बना।[३] इन सुल्तान ने इस के अतिरिक्त अनेक रागों की खोज की। इस शैली के संगीत की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुये डॉ. भगवत शरण उपाध्याय ने लिखा है-"आज जो हम भारतीय संगीत में इतना रस, इतना मर्म को छू लेने वाला आकर्षण पाते हैं, वह इसी मुस्लिम योग का परिणाम है। मुसलमान गायकों ने सारा का सारा हिंदू शास्त्रीय राग-रागनी परिवार ले लिया और उसे अपनी सूझ और खोज से, लगन और निष्ठा से, तप और साधना से वह अलौकिक रूप दिया जो उसका कभी न रहा था। अनेक नये राग हिंदू संगीत को मिले। ख्याल, गजल, ठुमरी, दादरा, कव्वाली और बीसों नई तर्जें भारत की प्राचीन परंपरा में दाखिल हुईं।"[४] इसी

---

[१] देवीलाल सामर- "भारतीय ललित कलायें", पृष्ठ ४२ शीर्षक - भारतीय संगीत।

[२] वहीं, शीर्षक-वही।

[३] देखिये "सांस्कृतिक भारत" पृष्ठ १२४, १२५. शीर्षक "कला"

[४] डॉ. भगवत शरण उपाध्याय "सांस्कृतिक काल" पृष्ठ १९३ ।

प्रकार बाजों के क्षेत्र में जो नई क्रांति हुई उसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। विशेषतः सितार और तबला इसी युग के संधान के परिणाम हैं। उधर मुल्तान में शेख बहाउद्दीन जकरिया तथा गुजरात के सुल्तान हुसेन बहादुर भी इसी मिश्रित संगीत के विकास में यत्नशील थे।

ऐसे संकट काल में ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के नेतृत्व में भारतीय संगीत के पुनर्जागरण का महत्वपूर्ण प्रयास आरंभ हुआ। यहाँ गायको ने अपनी पूर्व परंपरा के रक्षण के साथ साथ उसे अपनाया। संगीत कला के क्षेत्र में उपर्युक्त ईरानी शैली के आक्रमण से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उसने प्राचीन परंपरा को समाप्त प्राय ही कर दिया होगा। इसके विरुद्ध मध्यकाल में प्राचीन संगीत का सफल पुनरुत्थान हुआ था। अतएव इस कलात्मक पुनरुत्थान पर विचार करने से पहले हमे उसकी पूर्व कालीन अवस्था पर विचार कर लेना आवश्यक होगा।

तेहरवीं शताब्दी ईस्वी में पार्श्वदेव ने "संगीत समयसार" नामक ग्रंथ लिखा जिसमें उसने काश्मीर के राजा मातृगुप्त, धार के राजा भोज, अनहिल वाड़ा के चालुक्य राजा सोमेश्वर तथा महोबे के चंदेल राजा परमार्दि देव का उदाहरण प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। इस ग्रंथ के अनुसार चंदेलों की राज–सभा में जन नायक जैसे प्रबंध–गायक तथा परमार्दि देव जैसे संगीत मर्मज्ञ थे। यह निश्चित है कि 'संगीत समय सार' के उल्लेखनीय तथ्य असंदिग्ध उप से अमीर खुसरो के पहले से है। इस समय के संगीत शास्त्रीय ग्रंथों में संगीताचार्य प्रधान लक्षण यह माना है कि उसे छंद, अलंकार, भाषा एवं पद रचना में कुशल होना चाहिये। यह उल्लेख इस बात के स्पष्ट परिचायक है कि उस युग के कलाकारों, संगीत और साहित्य दोनों की बीच की दूरी को समाप्त सा कर दिया था।

दिल्ली दरबार के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के छोटे बड़े राज्यों में भी १५ वीं शती में संगीत की प्रचुर उन्नति हुई।

इस शताब्दी में ग्वालियर के राजा कुंभकर्ण (राणा कुंभा), मालवे के खिलजी, जौनपुर के शर्की, दिल्ली के लोदी सभी देशी संगीत को प्रश्रय देने लगे थे।[1] मेवाड़ में राणा कुंभा ने 'संगीत राज' नामक ग्रंथ लिखा और "रसिक प्रिया" नामक गीत गोविंद की टीका भी लिखी। राणा कुंभा की दृष्टि में भारतीय संगीत त्रुटि विहीन था। वे संस्कृत तथा मार्गी को पकड़े रहना चाहते थे। गुजरात, मालवा, जौनपुर और दिल्ली में जो देशी भाषा में हलके फुलके चपल राग चल पड़े थे उनकी तुलना में यह गंभीर संगीत कितना ठहर सकेगा, यह वे न सोच सके परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसी के प्रभाव के कारण हिंदी को मीराबाई की पदावली का उत्कृष्टतम साहित्य प्राप्त हुआ था। जिस प्रकार मेवाड़ स्वदेशीय संगीत पनपने लगा था उसी प्रकार ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने भी उसकी पुनर्प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योग दान दिया। इसके पूर्व यद्यपि गोपाल नायक के समय से ही हिंदी में गेय पद लिखे जाते थे, परंतु मानसिंह ने उन्हें अपनी शास्त्रीय व्यवस्था देकर संगीताचार्य नायकों में मान्य रूप दिया। उसने "मान कुतूहल" नामक संगीत शास्त्र के ग्रंथ की रचना उस समय के देश के सभी प्रतिष्ठित संगीताचार्यों के परामर्श एवं सहयोग से की थी।[2] मानसिंह का सब से

---

[1] वहीं पृष्ठ ७३ शीर्षक वही।

[2] "उनकी राज सभा में तो रामदास, बैजू और बख्शू जैसे महान् गायक तो थे हीं, उसने गुजरात से महमूद लोहंग, पूर्व से नायक पांडवीय और दक्षिण से नायक कर्ण को भी बुलाया और इन सबके परामर्श से "मान कुतूहल" की रचना की।" मध्य देशीय भाषा (ग्वालियरी) पृष्ठ ७६।

महत्वपूर्ण कार्य 'ध्रुपद' गायन की प्रतिष्ठा है। "मान कुतूहल" का फारसी में अनुवाद करने वाले फकीरुल्ला ने लिखा है :–

"मार्गी भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नहीं हुआ था। कहते हैं कि राजा मानसिंह ने उसे (ध्रुपद को) पहली बार गाया था, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसमें चार पंक्तियाँ होती हैं और सारे रसों में बाँधा जाता है नायक वैजू, नायक बख्शू और सिंह जैसा नाद करने वाले महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड़ गये। इसके दो कारण थे पहला यह कि ध्रुपद देशी भाषा में देशवारी गीत था तथा मार्गी में संस्कृत थी। इसलिये मार्गी पीछे हट गया और ध्रुपद आगे बढ़ गया। दूसरा कारण यह था कि मार्गी एक शुद्ध राग था और ध्रुपद में सब रागों को थोड़ा थोड़ा लिया गया है।[1]

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि युग की परिस्थिति के अनुसार ध्रुपद शैली का विकास शुद्ध भारतीय संगीत कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण घटना है। यह शैली उस युग में इतनी प्रतिष्ठा पा चुकी थी कि भक्ति-कालीन पद शैली में इस का अत्यधिक प्रयोग प्रायः सभी कवियों ने किया है। "मान कुतूहल" का उस युग में फारसी में अनुवाद होना भी इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि उक्त संगीत पद्धति का महत्व मुसलमान संगीत मर्मज्ञो के बीच प्रतिष्ठित था। इस ग्रंथ के आधार पर इस महत्वपूर्ण तथ्य पर भी प्रकाश डाला जा सकता है कि इस युग के उत्तर भारत के संगीत की दो प्रमुख शैलियाँ–विशुद्ध भारतीय और भारत ईरानी राजनैतिक परिस्थितियों का आधार लेकर विकसित

---

[1] देखिये–"मानसिंह और मान कुतूहल" पृष्ठ ९१।

हो रही थीं। मुसलमान सुल्तानों के राज दरबारों में जहाँ भारत ईरानी शैली का अधिपत्य था, वहाँ हिंदू नरेशों के दरबारों में विशुद्ध भारतीय संगीत पनपता जा रहा था जिसें १५ वीं शती में उत्तर भारत में प्रवर्तित होने वाले भक्ति आंदोलन ने भी अत्यधिक प्रेरणा दी। विषय तो प्रधानतः उसी के विविध संप्रदायों को भक्ति भावना ने ही दिये।

"मान कुतूहल" के अनुसार श्रेष्ठ गायक अथवा गीत रचयिता को व्याकरण, पिंगल अलंकार और रस का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है।[१] इसका परिणाम यह हुआ कि सभी संगीत कार तथा पद रचयिता ये दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे के अत्यंत निकट आ गये और इतना ही नहीं अपितु अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिसमें दोनों ही विशेषतायें एक ही व्यक्तित्व में संयुक्त हुई मिलती है। मानसिंह तोमर ने उपर्युक्त शास्त्रीय ग्रंथ लिखने के साथ साथ स्वयं बहुत से पद भी लिखे हैं। फकीरुला ने लिखा है कि, "सावंती, लीलावती, षाढ़व, मानशाही, कल्याण इनके गीत ग्वालियर वाले राजा मान न लिखे हैं।[२] इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख मिलता हैं कि राजा मानसिंह तकेमर ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा संग्रह तैयार कराया था, जिस में प्रत्येक वर्ग के रूची के अनुरूप पद संग्रहीत थे।[३] आगे चल कर "भावभट्ट" ने "अनूप संगीत रत्नाकर" के बहुत कुछ अंशों में मानसिंह द्वारा प्रचलित ध्रुपद के लक्षण को ही अपनाया है। उसके अनुसार उसके पद छोटे-छोटे चार वाक्यों के चार चरणों के होते थे, जिनका मूल रस शृंगार तथा पदों के अंत में अनुप्रास अथवा यमक रहता था।[४]

---

१ 'मान सिंह और मानकुतूहल': पृष्ठ ११२।

२ वही, पृष्ठ ८०।

३ ग्लेडविन : आईने अकबरी, पृष्ठ ७३८।

४ मध्यदेशीय भाषा, पृष्ठ ७७।

मानसिंह द्वारा सुप्रतिष्ठित ग्वालियरी तान उन के मृत्यु (सन् १५१७ ईस्वी) के पश्चात् तोमरों के राज सभा के साथ ही इतस्तत: बिखर गई और ग्वालियर की गायकी को ओड़छा, रीवाँ, गुजरात, सीकरी दिल्ली आदि राज दरबारों में स्थान मिला। इसे सर्वाधिक बृजभूमि और अकबरी दरबार ने आकृष्ट किया। जिन गायकों का भक्ति की ओर झुकाव था वे कृष्ण की लीलाभूमि मथुरा, वृंदावन और गोकुल में रम गये और राज वैभव की ओर आकृष्ट होने वाले कवि मुगल दरबार में पहुँच गये अथवा बुला लिये गये।

मुगल दरबार का संगीत –

मुगल शासनकाल में आकर भारतीय संगीत ने और भी उत्कर्ष प्राप्त किया। मुगल सम्राट अकबर संगीत कला का पोषक तथा संरक्षक था। इतिहासकारों के मतानुसार वह गायक तथा नक्कारा बजाने में विशेष रूप से प्रविण था। उसके राज्य में हिंदू, ईरानी, तूरानी तथा काश्मीरी संगीतज्ञ एकत्र हुये थे।[1] अब्दुर्रहीम खानखाना जैसा कवि, विद्वान और गायक उसके दरबार के नवरत्नों में से था। परंतु इस काल के जगत्प्रसिद्ध संगीतकारों में तानसेन तथा बैजू बावरा के नाम सर्व प्रमुख हैं। कहना न होगा कि ये दोनों ही संगीतकार स्वामी हरिदास के शिष्य थे। बैजू बावरे ने ग्वालियर दरबार में संगीत साधना की थी और तानसेन ने मुगल दरबार में। इसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मुगल दरबार के संगीत में भारतीय संगीत परंपरा का महत्व ईरानी संगीत की अपेक्षा प्रकृष्टतर ही रहा होगा। स्वामी हरिदास अपने समय के वैष्णव भक्त थे और

---

[1] भारतीय ललित कलायें :– पृष्ठ ४२ शीर्षक संगीत।

[2] वही पृष्ठ ४३ शीर्षक वही।

भक्ति की प्रेरणा से गीत रचकर ध्रुपद की गायकी में गाते थे।[१] उन के द्वारा रचित अनेक ध्रुपद आज भी विद्यमान हैं। उनकी कीर्ति तत्कालीन भारत में इतनी व्याप्त थी कि दूर दूर के अनेक कलाकार संगीत शिक्षा ग्रहण करने के लिये आया करते थे। उनके प्रमुख शिष्य तानसेन, रामदास, बैजू नायक, पंडित दिवाकर, गोपाल आदि थे। कहा जाता है कि स्वामी हरिदास की कीर्ति को सुन कर सम्राट अकबर ने उन्हें अपने दरबार में आमंत्रित किया था, परंतु उनके अस्वीकार करने पर वह स्वयं उनका संगीत सुनने वृंदावन गया था।

इसके अतिरिक्त अकबरी दरबार में शुद्ध भारतीय संगीत के प्रभाव के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, जो उसके साथ ही सम्राट की संगीत प्रियता को भी प्रमाणित करते हैं। श्री भातखंडे का कथन है कि अकबर बादशाह के दरबार के प्रायः सभी प्रसिद्ध गायक "ध्रुपदिये" अर्थात ध्रुपद गाने वाले ही होते थे।[१] अबुल फजल ने "आईने अकबरी" में उसके दरबार के ३६ संगीतज्ञों की जो नामावली दी है उसमें से १५ तो ग्वालियर के ही थे।[२] इन १५ में बीर मंडल तथा शिहाब खाँ क्रमशः सरमंडल वादक तथा बीन-वादक थे और शेष तेरह गायक थे। तानसेन के विषय में अबुल फजल ने लिखा है कि उसके समान पिछले एक हजार वर्षों तक के अंतर्गत कोई गायक भारतवर्ष में नहीं हुआ। अकबरी दरबार के संरक्षण में "राग सागर" नामक ग्रंथ लिखा गया जो शास्त्रीय सिद्धांत की दृष्टि से "मान कुतूहल" से पर्याप्त अंतर रखता है। कहना न होगा कि तानसेन ने प्रारंभ में ग्वालियर तथा वृंदावन में संगीत की शिक्षा ली थी और ग्वालियर से ही उस की

[१] विष्णु नारायण भातखंडे – "हिंदुस्तानी संगीत पद्धति" चौथी पुस्तक पृष्ठ ४६।

[२] ब्लोचमेन :- "आईने अकबरी" पृष्ठ ६२०, २२।

गान–प्रतिभा प्रकाश में आ चुकी थी परंतु उसकी प्रतिभा की चमक को सर्वाधिक प्रकृष्ट तम रूप में देखने तथा लाने का श्रेय अकबर तथा उसके दरबार को ही है। तानसेन के संबंध में अनेक जनश्रुतियां प्रसिद्ध है। ध्रुपद के साथ ही उसके 'मेघ राग' के संबंध में अनेक कथायें जनश्रुतियों से प्राप्त हुई है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक को उससे संबंधित एक हस्तलिखित ग्रंथ "राग रत्नाकर" अर्थात् 'तानसेन द्वारा गाये हुये गानों–पदों का संग्रह' नाम का प्राप्त हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि इस प्रसिद्ध गायक को उस समय प्रचलित अनेंक राग पद्धतियों तथा गानों का पूर्ण ज्ञान था।

इस प्रसंग पर यहाँ यह दृष्टि गत कर लेना आवश्यक है कि तानसेन के समय तक तो ध्रुपद गायकी की विशुद्धता स्थिर रही, परंतु जैसे जैसे फारसी की शायरी का प्रभाव बढ़ा और बड़े बड़े मौलवियों और ईरानी गायकों ने मुगल दरबार में अपना सिक्का जमाया वैसे वैसे शुद्ध भारतीय पद शैली का गेय साहित्य तथा गायकी भी उनकी नाजुक ख्याली और प्रच्छन्न कल्पना के रंग में रंग गई। कहना न होगा कि ध्रुपद का आधार प्रारंभ में भारतीय साहित्य की पदशैली थी, परंतु उपर्युक्त प्रभाव के कारण स्वयं "ध्रुपद गायकी" को भी अपनी गंभीरता और भावप्रवणता ऊँचे आसन स नीचे उतरना पड़ा और फारसी मौसीकी (संगीत) चंचलता को अपनाना पड़ा।"[1]

सम्राट अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ भी संगीत प्रेमी होने के कारण इस काली को उनके दरबार में आश्रय प्राप्त होता रहा। शाहजहाँ स्वयं भी एक अच्छा गायक था। उसने अनेक हिंदी गीतों की

---

[1] देखिये – भारतीय ललित कलायें :, पृष्ठ ४३ शीर्षक-संगीत.

रचना की थी और उसके अतिरिक्त पंडित जगन्नाथ तथा जनार्दन भट्ट भी उमके दरबार में थे। शाहजहां के पश्चात् होने वाले सम्राट औरंगजेब (१६५८ से १७०७ ईस्वी तक) संगीत कला का कट्टर विरोधी था। अतएव उसके दरबार में संगीत-साधन तो दूर की बात थी, अपितु उसने संगीतज्ञों को सदा के लिये निकाल दिया। एक घटना प्रसिद्ध है कि एक बार किसी व्यक्ति की शव-यात्रा देख कर बादशाह ने पूछा कि, "किसका जनाजा निकल रहा है" तो किसी के यह उत्तर देने पर कि "गान विद्या का" उसने प्रसन्नता पूर्वक कहा था, "इसको जाकर इतनी गहराई में गाड़ना कि फिर सिर न उठा सके।" औरंगजेब की इस नीति के परिणामस्वरूप दिल्ली दरबार से संगीत का एक प्रकारसे निष्कासन होकर जयपुर, उदयपुर, ग्वालियर, अलवर इत्यादि स्थानो में उसके फैलने का सुअवसर मिला।[1] इसके पहले मानसिंह तामर की मृत्युके पश्चात शुद्ध भारतीय संगीत के साधकों ने ओड़छा, रीवा, गुजरात, सीकरी तथा दिल्ली आदि के दरबारों में आश्रय ग्रहण करके उन्हें केंद्र बनाया ही था। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालांतर में भारतीय संगीत की उपर्युक्त दोनों शैलियों ने देश के विविध प्रदेशों में पहुंच कर अपनी परंपरा को अछुण्ण बनाये रखा है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि जिस प्रकार भक्ति आदोलन नें विशुद्ध भारतीय संगीत को नवीन विषय देने के साथ साथ उसे अमर प्रेरणा प्रदान की है, उमी प्रकार संगीत नें भी उसे गेय-साहित्य की दीर्घ कालीन सुदृढ़ परंपरा दी है जो आज तक चली आ रही है। भक्ति काल के यशस्वी रस-सिद्ध कवियों ने पद-शैली में उच्चकोटि की अमर रचनायें प्रस्तुत की है और इस प्रकार संगीत केवल मनोरंजन का साधन

---

[1] वही पृष्ठ ४४ शीर्षक वही।

ही नहीं रहा अपितु अध्यात्म साधना का प्रेरक तथा सहायक बनकर तत्संबंधी उक्ति – " नाम ब्रह्म " को चरितार्थ किया है । इसी प्रकार मुगल दरबार का संगीत पूर्व निर्दिष्ट स्थानों के अतिरिक्त रामपुर तथा लखनऊ पहुँच कर उन्हें संगीत–साधना के प्रधान केंद्र के रूप में प्रस्तुत कर दिया है । डॉ भगवतशरण उपाध्याय के मतानुसार पिछली पीढ़ियों में रामपुर के नबाव की संरक्षा में जितनी स्वर–साधना हुई है उतनी शायद कहीं और नहीं हुई ।[1] यह उल्लेखनीय है कि संगीत साधना के क्षेत्र में हिंदू–मुसलमानों ने कभी किसी प्रकार का भेद–भाव नहीं रखा।

औरंगजेब के पश्चात :-

औरंगजेब की विरोधी नीति के परिणाम स्वरूप संगीत कला के देश के अनेक छोटे मोटे राज दरबारों में पहुँचने की परिस्थिति पर पिछले पृष्ठों में विचार किया जा चुका है । तानसेन की पुत्री के वंश में सदारंग तथा उनके अतिरिक्त अदारंग नामक एक दूसरे गायक मुगल बादशाह मुहमद शाह रंगीले के समय में हुये । दोनों ने प्रचलित ध्रुव गायकी को, जो पहले ही फारसी रंग में रंग कर एक रसीली शैली बन चुकी थी एक नवीन रूप प्रदान किया । " अब तक ध्रुपद में कल्पना और स्वतंत्र तान पलटों के लिये कोई गुंजाईश नहीं थी परंतु सदारंग और अदारंग ने ध्रुपद गायकी की गंभीरता को अक्षुण्ण रखते हुये, उसमें कल्पना का पुट दिया तथा छोटी छोटी काल्पनिक तानों तथा मुरकियों से अलंकृत करके एक नवीन गायकी को जन्म दिया, जो बाद में " ख्याल गायकी " के नाम से प्रसिद्ध हुई । यह ख्याल शैली प्रचलित ध्रुपद शैली का ही विकसित रूप है । मुहम्मद शाह रंगीले के जमाने में अनेक सुंदर ख्यालों की रचना हुई जो आज भी अपनी मधुर बंदिशों तथा कमनीय कल्पनाओं

---

[1] दे. सांस्कृतिक भारत, पृष्ठ १९२ शीर्षक-कला ।

के कारण पसंद किये जाते हैं ।''[1] ऐसा पता चलता है कि तानसेन की पुत्री के वंश में संगीत कला की परंपरा धारा सतत प्रवाहित होती रही है। यद्यपि प्राचीन कला के बहुत से राग आज विलुप्त हो चुके हैं, परंतु ऐसी वंश परंपरा द्वारा अर्जित अनेक राग संगीत-मर्मज्ञों को मिले हैं। अभी कुछ मास पूर्व ऑल इंडिया रेडियो के म्युज़िक डाइरेक्टर श्री ठाकुर जयदेव सिंह जी से लेखक की भेंट होने पर उनके द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि अभी तानसेन की पुत्री के वंश में एक व्यक्ति हैं (जिन का नाम अब मुझे ध्यान में नहीं) उनके द्वारा उन्हें ख्याल गायकी का टुकड़ा सुनने का अवसर मिला; और उनका कहना था कि भारत में वह तर्ज जानने वाला कोई अन्य व्यक्ति उनके जानकारी में नहीं आया। इस ख्याल गायकी से कालांतर में दो प्रकार के ख्यालों की उत्पत्ति हुई एक विलंबित अर्थात् बड़ा ख्याल, दूसरा द्रुत अथवा छोटा ख्याल। विलंबित का ख्याल ध्रुपद की ही भाँति गंभीर और शक्तिशाली होता है, परंतु छोटा अथवा द्रुत की मुख्य विशेषता चंचलता और तेजी है। "इन छोटे ख्यालों की उत्पत्ति १९ वीं शती के प्रारंभ में हुई और ये अपनी चंचल प्रकृति और सुमधुर मुरकियों और तानों के कारण बड़े ख्यालों से भी अधिक लोकप्रिय बने।''[2]

जिन दिनों राजकीय दरबारों में ख्यालों के विविध प्रयोग किये जा रहे थे, उन दिनों लखनऊ और बनारस में फारसी गजलों का प्रचार हुआ। इनमें उर्दू शायरी के चमत्कार के साथ साथ द्रुत ख्यालों की मधुरता और कमनीयता भी भर दी गयी। लखनऊ की शायरी वर्तमान समय तक बड़ी लोकप्रिय रही है तथापि ख्यालों की लोकप्रियता को किसी भी 'प्रकार धक्का नहीं पहुँचा। ग्वालियर राज दरबार में हद्दू खाँ और

---

[1] 'भारतीय ललित कलायें', पृष्ठ ४४, ४५ संगीत।
[2] वही पृष्ठ ४५ शीर्षक वही।

हसूखां नामक गायकों ने सदारंग और अदारंग की ही भांति बड़े ख्यालों की परंपरा को पुन: स्थापित किया आज भी इनके वंशज उस श्रेष्ठ परंपरा को रक्षित किये हुये हैं। इसी प्रकार अलवर और उदयपुर में भी अलाबंदा और जाकुद्दीन खाँ के प्रभाव से ध्रुपद गायकी का प्रभाव बना रहा। जाकुद्दीन खां के वंशजों ने स्वर आलाप की भी एक विशेष पद्धति को जन्म दिया।

रामपुर के संगीत के प्रधान केंद्र बनने की चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। यहाँ के नवाब मुहमद शाह भी अपने समय के प्रसिद्ध गायक थे उनके दरबार में प्रसिद्ध गायकों को आश्रय मिला। स्वर्गीय उस्ताद फैयाज खाँ उन्ही गायकों के घराने में से थे। बाद में बडौदा नरेश के दरबार में फैयाज खाँ को समुचित आदर मिला। संगीत साधना के क्षेत्र में बड़ौदा राज्य का कुछ कम योगदान नहीं रहा। इसी प्रकार रियासत कोल्हापुर के राज गायक उस्ताद अलादियां खां का भी ख्याल गायकी में अन्यतम स्थान रहा है। लखनऊ के नवाबों के दरबार में ठुमरी का प्रचार बहुत अधिक हुआ। यहाँ के नवाब वजिदअली शाह के संबंध में प्रसिद्ध है कि वे स्वयं अच्छे कलाकार थे जिन्होंने नृत्य और संगीत के कई अंगों को परिपुष्ट किया। इसी प्रकार लखनऊ तथा बनारस में ठप्पा गायकी का भी पर्याप्त प्रचार रहा। कहना न होगा कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इन रियासतों के भारतीय गणराज्य में मिल जाने से देश में इधर उधर बिखरे हुये राज्यों की संरक्षा मे पल्लवित होने वाले कलाकेंद्र समाप्त हो गये।

१९ वीं शती में आकर संगीत कला की साधना समाज जीवन से उठ चली और उसका क्षेत्र कुछ पेशेवर वर्ग-विशेष तक ही सीमित हो गया। कालांतर में यह आध्यात्मिक स्तर से उतर कर केवल शृंगारिक भावनाओं के व्यक्त करने का साधन भी बन गया जिससे स्पष्ट है कि

कला का लौकिक पक्ष प्रायः समाप्त प्राय है। आज भारत सरकार इस कला के प्रोत्साहन की ओर विशेष ध्यान दे रही है और आशा है कि इस कला का शुद्ध सांस्कृतिक पक्ष जो कि आज नव निर्माण की दिशा में है, शीघ्र ही सुंदर रूप में प्रकाश में आ सकेगा।

वर्तमान अवस्था :

१९ वीं शती में कला के लौकिक पक्ष के ह्रास के संबंध में ऊपर विचार किया जा चुका है। साथ ही पूर्ववर्ती पृष्ठों के विवरण द्वारा स्पष्ट है कि भारतीय संगीत में प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के साथ ईरानी कला शैली का प्रचुर मात्रा में संमिश्रण हुआ है। परंतु वीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में श्री भातखंडे और विष्णु दिगंबर के सतत प्रयत्नों से एक ओर संगीत कला पुनः समाज में सम्मानित एवं प्रतिष्ठित हुई और दूसरी ओर प्राचीन शास्त्रीय संगीत पद्धतियों को सरल करके लोक ग्राह्य भी बनाया गया। कहना न होगा कि श्री विष्णु दिगंबर इस काल के एक उत्कृष्ट गायक थे, और भातखंडे महोदय संगीत के प्रकांड पंडित। इन दोनों व्यक्तित्वों के संयोग से कला की विशेष उन्नति हुई और संगीत की अनेक स्वरलिपियाँ तथा प्रमाणित पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनसे सीखने में विशेष सुविधा हुई है। भातखंडे महोदय ने अनेक विद्यालय खोले तथा संगीत की परीक्षायें भी चलाईं।

दूसरी ओर बंगाल में विश्व कवि रविन्द्र नाथ टैगोर की प्रेरणा से रवींद्र संगीत की सृष्टि हुई। कहना न होगा कि बंगाल मध्य काल से निरंतर कला-साधना की भूमि रहा है। रवींद्र संगीत में भारतीय शास्त्रीय संगीत की आधार भूमि होते हुये भी उसमें पाश्चात्य संगीत की छाप स्पष्ट है। यह शैली बंगाल में बड़ी लोकप्रिय हुई है। इसमें शब्द और स्वरों का सुंदर समन्वय होने के कारण गीति-साहित्य का बहुत बड़ी मात्रा में सृजन हुआ और आधुनिक कविता में गीति शैली का

प्रकृष्ट तम विकास इसी शैली की देन है। इसके अतिरिक्त फिल्मी संगीत भी आज के युग में अत्यधिक प्रचलित होता जा रहा है, जिसके अंतर्गत कहीं तो प्राचीन परंपरा का अनुकरण किया गया और कहीं मिश्रित शैली की प्रतिष्ठा हुई हैं। वर्तमान फिल्मी गानों के यूरोपीय तर्जें भी विशुद्ध रूप में उतारी जा रही हैं। इस सबसे यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उसके माध्यम भले ही बदल गये हों परंतु समाज-जीवन में बदलती हुई रूचि के अनुरूप वह पुन: व्याप्त होता जा रहा है यद्यपि कहीं कहींपर फिल्मी गानों में भद्दी रूचि के भी दर्शन होते हैं।

लोक गीत -

लोक गीत सदा से किसी भी देश की जनता की सांस्कृतिक भावना के प्रगटी करण के साधन रहें हैं। इन का रक्षण सदा से श्रुति परंपरा द्वारा होता आया है। ऐसे गीत पर्वत्यौहारों, सार्वजनिक समारोहों, धार्मिक उत्सवों तथा विवाहादि के मांगलिक अवसरों पर गाये जाते हैं। इनकी परंपरा अत्यंत प्राचीन है। ये प्रादेशिक भाषाओं एवं बोलियों में बनाये गये। अतएव साहित्य या भाषा की रचना की अपेक्षा इनमें भावाभिव्यक्ति अधिक स्वाभाविक रूप से हुई है। दीर्घकालीन श्रुति-परंपरा से चले आये हुये इस लोक-साहित्य को संग्रहीत करने की ओर अब विद्वानों का ध्यान गया है और उनके कई एक संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं। लोक गीतों की प्रमुख विशेषता शब्द लालित्य एवं स्वर सौंदर्य का सुंदर समन्वय है।

❖

५. नृत्य कला

भावों के अनुसार शरीर के अंगों का ताल-बद्ध संचालन करना ही 'नृत्य' कहलाता है। सभी जीव धारियों में इस प्रकार की गति स्वभावतया ही होती है। श्यामल मेघ की काली घटायें देख कर मयूर नृत्य कर उठता है साँप और भालू भी मस्त होकर नाचते देखे गये हैं। असभ्य जातियाँ प्रसन्नता और विजय के अवसर पर सहज रूप से नृत्य करती हैं अतएव संगीत की ही भाँति आनंद और उल्लास के क्षणों में अंग-प्रत्यंगों का उछलने कूदने के रूप में लास्य आदि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतएव यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि संसार के सभी नृत्यों का उद्भव इसी विशेष स्थिति में हुआ होगा। परंतु यह अनियंत्रित उद्रेक है और जब इसे निश्चित नियमों द्वारा आबद्ध किया गया होगा, तभी से व्यवस्थित और नियोजित ढंग से 'नृत्य कला' का रूप निखरा होगा।

संगीत में शरीर के अंगों के घूमने की प्रक्रिया हुआ करती है। स्वर साधना के साथ साथ हाथ से ताल देना, पैरों का पटकना तथा विविध अंगों का संचालन एक विशेष प्रकार से होता है, और यह संचालन का ढंग प्रदेश विशेष में अन्यों से भिन्न एक विशेष प्रकार से होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि आनंद या उल्लास के क्षणों में आंगिक लास्य प्रकट करने वाला आदि कालीन नृत्य कालांतर में सभी भावनाओं

के प्रकटी करण का साधन बना। मानव भावानुभूति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होने के कारण नृत्य और संगीत का सामाजिक उत्सवों में प्रमुखतम स्थान अति प्राचीन काल से रहा है। नृतत्व विज्ञानवेत्ताओं ने भी इसकी प्राचीनतम अवस्थिति को आदि कालीन धार्मिक उत्सबों तथा लोक-जीवन के अंतर्गत होने वाली रीति-नीतियों में संगीत के साथ साथ माना है।[१] अतएव नृत्य की प्रारंभिक अवस्था-अंग संचालन कालांतर में मानव सभ्यता के विकास के साथ ही कला का रूप प्राप्त करते, करते तथा प्राप्त करने के बाद भी, परिमार्जित हो चला। किसी भी सामाजिक समारोह या धार्मिक पर्व के समय उसकी उपर्युक्त नियोजित अंगभंगिमायें लयबद्ध नृत्य के रूप में परिवर्तित हुई। "ये समारोह प्रारंभ में प्राकृतिक प्रकोपों से बचने तथा आदि-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये हुआ करते थे। सामूहिक नृत्य, नाटच तथा गान इन समारोहों के प्रमुख अंग थे। आदि वासियों के जीवन में यज्ञ आदि का बड़ा महत्व था और जब उन के जीवन से भय की भावना आनंद और उल्लास में परिणत हुई तब सामूहिक नृत्य और गान आनंदानुभूति के मनोहर साधन बन गये।"[२] भारत जैसे उत्सव प्रिय देश में नृत्य-गान की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। नृत्य कला की उत्पत्ति कब और कैसे हुई यह पूर्णतया अनिश्चित है। मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता में ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि उस समय नृत्य कला का प्रचलन था।

प्राचीन साहित्यिक साक्ष्य :-

आर्य संस्कृति के सर्व प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में वरुण, इंद्र, मरूत् आदि प्राकृतिक देवताओं की पूजा नृत्य गान से आरंभ होती है।

[१] फ्रेंच बो आस-जेनरल ऐन्थ्रॉपॉलोजी; पृष्ठ ६०६, ६०७, शीर्षक "डान्स"
[२] भारतीय ललित कलायें (एक परिचय) पृष्ठ ५७ शीर्षक "भारतीय नृत्य कला"

यों तो, वैदिक मंत्रों का उच्चारण भी हस्त मुद्राओं तथा अंग संचालन के साथ होता था, आज भी ये प्रारंभिक हस्त–मुद्रायें पुरोहितों द्वारा वेदोच्चार के साथ देखी जा सकती हैं, परंतु बिशुद्ध नृत्य के भी अनेक उदाहरण ऋग्वेद में मिलते हैं।[१] "समन" नामक तत्कालीन मेले में युवक और युवतियाँ दोनों मिल कर नाचते थे। डॉ. राधा कुमुद मुकर्जी के मतानुसार ऋग्वेद काल में रथ और घोड़ों की दौड़, संगीत आदि मनोरंजन के साधनों के बीच नृत्य का प्रमुख स्थान था।[२] सायण में ऋग्वेद के "नृत्यमानो अमृता:" का अर्थ–'नाचते हुय देवता' किया है।[३] भरत मुनि के नाटच शास्त्र में नृत्य का विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ के प्रारंभ में एक कथानक द्वारा ज्ञात होता है कि देवताओं द्वारा ब्रह्मा जी से संसार को चकित कर देने वाला मनोरंजन का साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना करने पर उन्होंने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान यजुर्वेद से नाटय तथा अर्थवेद से रस लेकर नाटच शास्त्र नाभक पंचम वेद की रचना की। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही विकसित नृत्य की आंगिक मुद्रायें कालांतर में धर्म, साहित्य और कला के सामंजस्य के साथ साथ नृत्य शास्त्र की मुद्राओं में विकसित हो गई और नृत्य शास्त्रियों ने उन्हें अनेक नियम उपनियमों द्वारा आबद्ध कर दिया। इस ग्रंथ में नाटच शास्त्र का विशद विवेचन होनेके कारण नाटच–संगीत आदि नाटकीय तत्वों के साथ नृत्य कला पर विचार किया गया जिससे ज्ञात होता है कि कला के तीनों रूप एक दूसरे से अभिन्न थे।

---

[१] ऋग्वेद ६।७५।४, १०।५५।५।

[२] "हिंदी सिव्हिलाइजेशन", पृष्ठ ७७, "दि आर्यन्स इन् इंडिया"

[३] पी. के. आचार्य "भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता" पृष्ठ २९१।

वाल्मीकि रामायण के उल्लेखों द्वारा ज्ञात होता है कि सामाजिक उत्सवों का समारोह राष्ट्र के संवर्धन का साधक माना जाता था,[१] और उनमें नृत्य संगीत को विशेष महत्व था। गणिकायें, नट-नर्तक, पुरोहित, सेनाध्य, व्यापारी, ग्रामीण, नागरिक सब राजपथों और प्रासादों में एकत्र होकर आनंदोत्सव में मग्न हो जाते थे।[२] इस समय नृत्य और संगीत की व्यापकता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ केक्य में भरत का मनोरंजन करनें वालों में नर्तक एवं संगीतज्ञ होना, राज्य में विवाहोत्सव में अप्सराओं के नृत्य, भारद्वाज आश्रय में भरत के परितृप्त सैनिकों का मालायें धारण करके हँसने, नाचने, गाने में विभोर हो उठना, इंद्रजीत के वध पर गंधर्वों, अप्सराओं का नृत्य आदि का उल्लेख उपर्युक्त तथ्य का समर्थन करते हैं। नाट्य कला में नृत्य के अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान का भी निर्देश इस महाकाव्य में मिलता है रामायण मे नट नर्तक का युगल शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है।[३] मधुपुरी की ओर अभियान करते समय शत्रुघ्न के साथ नट-नर्तक भी गये थे, तथा अयोध्या की चौड़ी सड़कें राम के जन्मोत्सव पर नट-नर्तकों से भरी पड़ी थीं, आदि विवरण आमोद प्रमोद के साधनों में नृत्य कला के महत्व को प्रकट करने के साथ साथ यह भी प्रकट करते है कि यह कला नाट्य साहित्य का प्रमुख अंग रही है। अतएव रामायण के पश्चात्वर्ती भारतीय नाट्य साहित्य की दीर्घ कालीन परपरा नृत्य कला के कला और साहित्य के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान की द्योतिका है, इसमें संदेह नहीं। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के अतिरिक्त नंदिकेश्वर

---

[१] उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः – देखिये – अयोध्या कांड ६७। १५।

[२] अयोध्या कांड सर्ग ३, ४, १५।

[३] डॉ. शांतिकुमार नानूराम व्यास :- " रामायण कालीन संस्कृति " पृष्ठ १०८, " क्रिड़ा-विनोद "

के अभिनय दर्पण, धनंजय के दशरूपक और संगीत रत्नाकर आदि ग्रंथों में नृत्य कला की शास्त्रीय विवेचना की गई है जिससे प्रकट है कि पाँचवी शताब्दी ई. से भारत में नृत्य शास्त्रों की रचना होने लगी थी। डॉ. पी. के. आचार्य के शब्दों में " इन ग्रंथों में पौराणिक परंपरानुसार, नृत्य की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार शिव नें भरत को नृत्य का ज्ञान कराया और पार्वती के द्वारा उन्होंने उषा को लास्य नृत्य की शिक्षा दी। उषा से उसका ज्ञान वृंदावन की गोपियों को प्राप्त हुआ, जिनसे भूलोक में उसका प्रसार हुआ।[१]

भारतीय नृत्य का विकास –

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि भरत मुनि के समय में नृत्य के दो भेद–तांडव और लास्य हुये, जिनमें से संभवतः तांडव नृत्य पुरुषों में और लास्य स्त्रियों में प्रचलित था। इस पर सुंदर ढंग से प्रकाश डालते हुये डॉ पी के. आचाय ने लिखा है कि "तांडव ध्रुपद तथा अन्य गीतों के साथ नेत्रों, भौहों तथा हाथों का विभिन्न रूप से संचलन करते हुये किया जाता है। लास्य स्त्रियों का नृत्य है। इस का उद्देश युवकों के हृदय में शृंगार भावना उत्पन्न करना होता है। अतएव इसे युवतियाँ अपने आकर्षक एवं उत्तेजक अंगों का झीने कपड़े से आवृत्त कर के करती है। शुंग कालीन तथा उसके बाद के मंदिर–वास्तु में नृत्य की विविध मुद्रायें अंकित हैं, जो अनेक भाव–भंगिमाओं को प्रस्तुत करने के साथ साथ नृत्य कला के समुचित विकास एवं लोक–प्रियता की द्योतिका हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जो नृत्य आदि काल में केवल आनंद या उल्लास के क्षणों में उछल-कूद तथा लयबद्ध क्रियाओं के माध्यम से व्यक्त होता था वह कालांतर में वैदिक कालीन अंगिक मुद्राओं तथा अर्चनात्मक भावाभिव्यति में

---

[१] " भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता " पृष्ठ २९९ ' संगीत '

विकसित होकर आगे चल कर वेष-विन्यास और भाव-भंगियों की दृष्टि से नाना प्रकार की विशेषताओं से अलकृत हुआ और उसने कला तथा शास्त्र का रूप धारण किया।

कालिदास के काल तक तो भारतीय नृत्य अत्यंत विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुका था। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने इस का वर्णन करते हुये लिखा है–" मालविकाग्नि मित्र " नामक नाटक के प्रथम दो अंकों में गीत और नृत्य के सिद्धांतों का पर्याप्त विवेचन किया गया है तथा 'चलित' अथवा " छलित नामक एक अन्य प्रकार के नृत्य का भी उल्लेख इस महा कवि ने किया है।[१] कालांतर में जिस प्रकार संगीत सार्वजनिक जीवन से हट कर पेशेवर वर्ग–विशेष तक ही रह गया उसी प्रकार नृत्य की भी अवस्था हुई। कालीदास के मेघदूत, रघुवंश तथा बाण के कादंबरी तथा हर्षचरित्र आदि ग्रंथों में विविध उत्सवों में नाचने वाली गणिकाओं का उल्लेख हुआ है।

धर्म प्रधान भारत की धार्मिक भावना के अंतर्गत भी नाट्य कला की साधना का विकास होता आया है। आज भी अनेक देव मंदिरों में देवदासी प्रथा चली आयी है. यद्यपि इसमें संदेह नहीं, उक्त कला-साधना में अनेक विकृतियाँ आ गई हैं। पौराणिक देवताओं में शिव को नटराज कहा गया है। वे चार रूपों में नृत्य करते हुये बताये गये हैं, जो उनकी स्वभावगत विशेषता के सूचक हैं। वे चारों इस प्रकार हैं -१) संहार मूर्ति २) दक्षिण मूर्ति (शुभ) ३) अनुग्रह मूर्ति (वरप्रदायक) और ४) नृत्य मूर्ति (संगीतात्मक); तथा नटराज शिव की १०८

---

[१] हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास, पृष्ठ ६५७, ६५८, शीर्षक – संगीत–नृत्य.

नृत्य मुद्रायें हैं जिनसे संसार की सृष्टि और लय के भाव सूचित होते हैं।[1] कहना न होगा कि अवसर तथा प्रसंगानुसार इनकी भी भिन्न भिन्न संज्ञायें दी गई हैं - जैसे भैरव-ताण्डव, गौरी-ताण्डव, उमा-ताण्डव तथा संध्या ताण्डव इत्यादि। ताण्डव नृत्य शिव की पंच क्रियाओं - सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोभाव तथा अनुग्रह अथवा मोक्ष - का निरूपण करता है। इसी प्रकार काली के भक्त काली के नृत्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। एक पौराणिक कथानक के अनुसार जब महिषासुर मर्दिनी काली उस आततायी राक्षस का बध करके क्रोध में भरी हुई आ रही थीं तब उनके क्षोम को शांत करने के लिये मार्ग में शिव लेट गये। शिव के ऊपर दिगम्बर तथा भयानक वेश में नृत्य करती हुई काली की यह मुद्रा जो कतिपय मूर्तियों में अंकित की गई है वह संभवतः उक्त प्रकार के पौराणिक कथानक से संबंधित है। सगुण भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण की रासलीला और उनका गोपियों के साथ नृत्य प्रसिद्ध है। कृष्ण के ललित नृत्य ब्रजभूमि के वृंदाबन, मथुरा, नांदगांव तथा बरसाना आदि स्थानों में अत्यधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय हैं। पौराणिक आख्यानों मे कृष्ण को नटवर तथा नटनागर कहा गया है और गोपियों के साथ उनके नृत्य को 'रासलीला'। इसी प्रकार गणेश, इद्र आदि देवताओं की नृत्य-मुद्रा में अंकित मूर्तियाँ भी मिलती है। देवमंदिरों में प्राचीन काल से लेकर अबतक चली आई हुई देवदासी प्रथा पर ऊपर विचार किया जा चुका है। डॉ. पी. के. आचार्य के मतानुसार[2] देवताओं की नृत्य-प्रियता के कारण ही मंदिरों में देवदासी प्रथा प्रारंभ हुई थी, जिसमें वे देवी देवताओं की मूर्तियों के सामने नृत्य करतीं तथा वहीं रहती भी थीं, परंतु बाद में ये मंदिरों की दुश्चरित्रता का कारण भी बनीं।

---

[1] भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ २९९, ३००, नृत्य-कला.
[2] वही, पृष्ठ ३०० शीर्षक वही।

वैसे तो, गुप्तवंशीय शासन काल विविध कलाओं के उत्कृष्टतम विकास का है, परंतु उसके पूर्व द्वितीय शताब्दी ईस्वी में नृत्य, संगीत, अभिनय–सभी उत्कृष्टता को पहुँच चुके थे। आगे चलकर इनका प्रचार तो बढ़ता गया परंतु नृत्य कला सामाजिक सम्मान को खोने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि नृत्य कला का ह्रास आरंभ हो गया फलतः यह केवल वेश्याओं तक ही सीमित हो चली।[1] इसी प्रकार मंदिरों में नृत्य करने वाली देवदासियों के नैतिक पतन के कारण उन्हें भी हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। परंतु आधुनिक युग में आकर विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने विश्व भारती तथा उदयशंकर ने अपने विविध कलात्मक नृत्यों द्वारा इस कलंक का परिमार्जन किया है जिससे अब यह पुनः सम्मान को प्राप्त करती जा रही है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य नृत्यकला ने भी भारतीय नृत्यों पर प्रभाव डाला है। आधुनिक काल में भारत में नृत्य की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं जिनमें से चार प्रमुख हैं।

नृत्य की चार शैलियाँ :

भारत में प्रचलित विविध नृत्यों में शास्त्रीय आधार को लेकर विकसित हुये नृत्यों की चार प्रधान शैलियाँ – भरतनाट्य, कथाकली, कत्थक, तथा मणिपुरी हैं, जिनके अतिरिक्त लोकनृत्य भी हैं। कहना न होगा कि शास्त्रीय नृत्यों में परस्पर बाह्य भिन्नता होते हुये भी सामान्यतः उनकी पृष्ठभूमि एक ही है। फिर भी उन पर अलग अलग विचार करना आवश्यक होगा।

भरत नाट्य :

यह नृत्य शैली भारतीय नृत्य–शैलियों में सर्व प्राचीन है जिसका अस्तित्व काल लगभग दो हजार वर्षों का है यह विशुद्ध धार्मिक नृत्य

---

[1] वही, पृष्ठ ३००, ३०१, शीर्षक वही।

है क्योंकि इसका सर्व प्रथम उद्गम मंदिरों में हुआ था तथा इसकी समस्त अंग–भंगिमायें और विषय- सामग्री धार्मिक ही है। भरत नाट्य का विकास भरत मुनि के नाटच शास्त्र के नियमों के आधार पर हुआ है। डॉ. पी. के. आचार्य ने इस नृत्य की विशेषताओं का परिचय देते हुये लिखा है कि " नाटच सूत्र में उल्लिखित चरणों की समस्त गतियों को इसमें प्रदर्शित किया जाता है। इसमें नाटच शास्त के गरुड़, आसन, भ्रमरी, चक्र, उत्प्लवन आदि क्रियाओं को स्वीकार किया गया है। ताल देने के लिये मृदंग तथा करताल का प्रयोग होता है। इस नृत्य का उद्देश्य किसी भाव अथवा रस की उत्पति करना है।"[1] संभवत: भरत मुनि के नाटच शास्त्र के नियमों पर आधारित होने के कारण ही इसका नाम 'भरत नाटच' पड़ा होगा। इसके उद्गम पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इसे सर्व प्रथम अर्जुन ने इंद्र की अप्सरा उर्वसी से सीखा था। इसके साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि अर्जुन ने विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य कला की शिक्षा दी थी। परंतु जो ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं उनके अनुसार यह नृत्य शैली चौथी शती में दक्षिण भारत के तंजौर के आसपास विकसित हुआ। तंजौर के चोल राजाओं नें इसे राजकीय संरक्षण दिया था और वहाँ के मंदिरों में देवदासियों में यह प्रचलित हुआ। तब से लेकर आधुनिक काल तक यह देवदासियों के बीच प्रतिष्ठित रहा है। यह नृत्य स्त्रियों के लिये ही उपयुक्त माना गया था। परंतु इसके गुरु पुरुष होते हैं जिन्हें तंजौर में "भागवतेलम्" कहा जाता है। इनका एक विशेष समुदाय आज भी वर्तमान है जिनकी अनेक शिष्यायें हैं। देवदासियाँ केवल मंदिर की ही संपत्ति होती थीं और इनका समस्स्त भरण–पोषण मंदिरों में ही होता था।[2] वे मंदिरों में अपने आराध्य देव के संमुख

---

[1] वही पृष्ठ ३०१, शीर्षक–वही

[2] देवीप्रसाद मामर :- भारतीय ललित कलायें पृष्ठ ६६ "नृत्य-कला"।

नृत्य कर के अपने धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति भक्तिभावना से करती थीं। इसमें संदेह नहीं कि इनके द्वारा प्राचीन भारतीय नृत्य की अनेक सुंदर परंपरायें चलती रही, परंतु कालांतर में ये मंदिर जब विलासिता के केंद्र बन गये तो ये देव-दासियाँ भी मंदिरों की संपत्ति न रह कर विलासी राजे-महाराजों तथा मनचले धनी-रईसों के विलास तथा मनोरंजन की सामग्री बन गयीं। इस प्रकार मंदिरों के आध्यात्मिक वातावरण के बीच पहले पल्लवित होने वाली यह कला आगे चल कर एक ओर उनके विकृत वातावरण का अंग बन चली और दूसरी ओर कालांतर में इसे राज-दरबारों में भी स्थान मिलने लगा। त्रावणकोर और मैसूर राज्य इसके प्रमुख केंद्र बन गये।

देवदासी प्रथा में उपर्युक्त विकारों के प्रवेश के कारण सुशिक्षित समाज के बीच इस नृत्य के प्रति सम्मान भावना समाप्त हो चली। स्वातंत्र्य प्राप्ति के पश्चात् भारत में देवदासी प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया गया है और इस नृत्य को केवल पुरुष ही आवश्यकतानुसार स्त्री-वेश धारण करके करते हैं। दक्षिण भारत में पुरुषों द्वारा किये जाने वाले इस नृत्य को " कच्छपुरी नृत्य " कहते हैं।[1]

बीसवीं शती के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने इस कला के सुप्तप्राय सांस्कृतिक एवं महत्व की प्रतिष्ठा की है। देवदासी प्रथा के प्रतिबंध के पश्चात् भी इसकी कलात्मक उत्कृष्टता के कारण अनेक कलाकारों द्वारा इसे चेतना मिलने के कारण यह शैली पुनः सम्मान का पात्र बन चली। इसके उन्नयन में रामगोपाल, रुक्मिणी देवी तथा श्रीमती बाला सरस्वती ने महत्वपूर्ण योग दान किया है। इसके अतिरिक्त दक्षिण में आज भी

---

[1] डॉ. पी. के. आचार्य :- भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ ३०१।

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि 'कथकली नृत्य' में लोक तथा शास्त्रीय नृत्यशैलियों का अपूर्व मिश्रण तथा समन्वय किया गया है और इसका संबंध भी प्रायः दक्षिण भारत से सदा से रहा है। इस नृत्य की अंग-भंगियां नेत्र और मुख की भावाभिव्यक्ति किसी न किसी अर्थ-विशेष का वहन करती हैं। नृत्यकारों की वेशभूषा चमकली भीमकाय तथा भड़कीली होती है और उनका मुख-विन्यास भी अत्यंत विचित्र होता है। वेशभूषा और मुखाकृति में पूरा पूरा सामंजस्य रहता है। अतएव नृत्यों की कलात्मकता से सर्वथा अपरिचित सर्व साधारण समाज के लोग भी इसके प्रति आकृष्ट होते होंगे इसमें संदेह नहीं।

कथकली के नर्तकों को अपने अंग-प्रत्यंगों को इतना लचीला तथा कुशलतापूर्वक अंग-भंगिमाओं के प्रगटीकरण के लिये तैयार करना पड़ता है कि वे मुख के एक भाग से हँसने तथा दूसरे भाग से रोने का अभिनय दोनों एक साथ कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त "कथकली" शास्त्र में हस्त, मुख तथा ग्रीवा के अनेक प्रकार वर्णित है जिनसे उसके नृत्यकार बिना बोले ही अपना प्रयोजन प्रकट कर सकता है। इस नृत्य के साथ मृदंग, रुद्रवीणा तथा वंशी का प्रयोग होता है।"[1] कथकली के सर्वश्रेष्ठ नृत्यकार स्वर्गीय श्री शंकरम् नंबूदरी थे जो ट्रावनकोर राज्य के राजनर्तक उदयशंकर के गुरु थे। उदयशंकर के अतिरिक्त जीवित नृत्यकारों में श्री गोपीनाथ, श्रीमती थंकमणि तथा कुंजू नायर के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने उक्त प्रदेश में काफी लोकप्रियता प्राप्त की है।

वर्तमान काल में इस नृत्य का रंगमंच पर सुंदर उपयोग किया गया है। अतएव रंगमंच के लिये उपर्युक्त बनाने के लिये इसमें पर्याप्त

---

[1] वही पृष्ठ ६६, शीर्षक – वही।

मात्रा में आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं । इस दिशा में 'नाट्य निकेतन' नामक प्रसिद्ध संस्था का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जिसमें इस शैली के शिक्षण की भी व्यवस्था है । श्री सामर जी के मतानुसार कथकली नृत्य के शिक्षण, पुनरुत्थान तथा प्रचार के कार्य में संलग्न सबसे पुरानी और अधिकृत संस्था इस समय 'केरला कला मंडलम्' है जिसके संस्थापक श्री वल्लतोल (सुप्रसिद्ध कवि तथा नृत्यकार) के प्रयास से इस कला शैली को आज समस्त भारत में इतना सम्मान प्राप्त है ।[१] भारत ही नहीं विदेशी कला साधकों ने भी इस शैली की ओर आकृष्ट होकर इसे सीखना आरंभ किया है ।

३. कत्थक :

भारतीय और मुगल संस्कृतियों के समन्वय से भारतीय साहित्य तथा कला के क्षेत्रों को जो नवीन शैलियों का वरदान प्राप्त हुआ है, उनमें कत्थक नृत्य भी कहा जा सकता है । यद्यपि इसकी शास्त्रीय पद्धति में भरत मुनी के नाट्य शास्त्र की अनेक बातों का पालन किया गया हैं, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से इस का विकास मुगल बादशाहों के काल में हुआ माना जाता है, परंतु इस को व्यवस्थित रुप अवध के नवाबों के दरबारों में मिला । यह नृत्य उतर भारत के पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंबई, राजस्थान आदि प्रदेशों में अधिक प्रचलित है, वैसे मुसलमान शासन के प्रभाव में आने वाले प्रदेशों में यत्किंचित रूप में इसका प्रचार अवश्य रहा होगा ।

इस नृत्य की विशेषताओं पर डॉ. पी. के आचार्य नें लिखा है कि- "प्राय: ब्राम्हण उस्ताद" इस नृत्य को करने वाली विशेष जाति की स्त्रियों या वेश्याओं को सिखाते थे । तबले के अनुसार पद संचालन इस

[१] वही पृष्ठ ६७, शीर्षक - वही ।

नृत्य की विशेषता है। वास्तव में यह नृत्य भूमि पर पैर में बधे हुये घुघरुओं के द्वारा तबला बजाना ही है। इसमें संपूर्ण शरीर स्थिर रखना पड़ता है। गति केवल पैरों में होती है। विभिन्न मुद्रायें तथा गतियाँ सदा किसी अर्थ या भाव को प्रकट करने के लिये ही होती हों, ऐसा नहीं।"[1] इससे पता चलता कि इस नृत्य में विशुद्ध शास्त्रीय आधार का अभाव होनें के साथ साथ एक सुनिश्चित पद्धति का अनुशीलन भी उतनी दृढ़ता के साथ नहीं किया जाता।

यह उल्लेखनीय है कि अन्य भारतीय नृत्यों की भाँति न तो यह इतना लोकप्रिय रहा है और न इसकी धार्मिक पृष्ठभूमि ही उतनी प्रबल है। कहना न होगा कि प्रारंभिक मुसलमान सुलतानो की धार्मिक असहिष्णुता के कारण संगीत की ही भाँति नृत्यकला को भी बड़ा आघात पहुँचा था। अतएव कथकली, भरत, मणिपुरी आदि नृत्य कलायें भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों में सुरक्षित रहीं। भारत के मध्यवर्ती प्रदेश में दीर्घकाल तक समाप्तप्राय सी होने वाली नृत्यकला का विकास आगे चलकर कला-प्रिय मुगल सम्राटों एवं अवध के नवाबों के वैभव और विलासपूर्ण वातावरण से भरे दरबारों में हुआ। अंतिम मुगल सम्राटों के शासनकाल में जिस प्रकार भक्ति कालीन साहित्य की आकृति के रूप में रीतिकाल की शृंगार प्रधान और राज्याश्रित काव्य-शैली का जन्म हुआ उसी प्रकार यह नृत्य भी घोर शृंगारिक तथा रीति-बद्ध-शैली प्रवर्तित हुआ।

इसके विकास पर प्रकाश डालते हुये श्री सामर जी ने लिखा है लखनऊ के नवाब आसफउद्दौला के दरबार में मियाँ शोरी नामक एक पंजाबी कलाकार थे जिन्होंने संगीत में टप्पा शैली को जन्म दिया और

[1] डॉ. पी. के आचार्य :- भारतीय सस्कृति एव सभ्यता, पृष्ठ ३०१, ३०२ शीर्षक – नृत्य-कला

यह भी कहा जाता है कि इस नृत्य शैली के जन्मदाता भी वही थे। "उस समय उत्तर प्रदेश के सभी नर्तक उनके शिष्य थे प्रारंभ में यह नृत्य एक भाव नृत्य के रुपमें विद्यमान था। अतिशय भाव प्रधान ठुमरियों और टप्पों को गाते समय गायक अपना अंग संचालन किया करते थे। यह प्रणाली धीरे धीरे भाव नृत्य का रूप धारण करने लगी। इस शैली को नवाब वजिदअली शाह के समय के श्रीयुत कालका तथा बृंदा नामक दो भाइयों ने विकसित और नियोजित किया। धीरे धीरे गायन की भावाभिव्यंजना वाली शैली पद और अंग संचालन के साथ समन्वित हुई तथा तबले और पखावज के कठिन से कठिन तोड़े, टुकड़े पांवों से जमीन से बजाये जाने लगे। इस पद्धति ने अनेक अंग–भंगिमों के मिश्रण से एक व्यवस्थित नृत्य का रुप दे दिया।"

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा सकता है कि इस नृत्य का विकास तथा कलात्मक प्रतिष्ठा लखनऊ के नवाबों के दरबार में हुई थी। लखनऊ के नवाबों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनके दरबार शृंगारिकता तथा विलासिता के केन्द्र होने के साथ ही नवाब वजिदअली शाह जैसे नवाब कला मर्मज्ञ भी थे। अतएव ऐसे वातावरण में पल्लवित होने वाली नृत्यकला निश्चय ही शृंगारिक भावना प्रधान रही होगी। पिछले पृष्ठों में इसके जिन आधुनिक कला-केन्द्रों की चर्चा की गई है उनमें उपर्युक्त कालका वृन्दा के अनेक शिष्य हैं। लखनऊ के श्री अच्छन, शभु महाराज, तथा लक्ष्मण बृंदा जी के पुत्र हैं। इनमें से शंभु महाराज को उनकी नृत्यकला–कुशलता के लिये राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित भी किया जा चुका है। इसी प्रकार जयपुर के मोहनलाल, जयलाल, सुंदरलाल, चिरजी, नारायण प्रसाद आदि भी बृंदा जी की शिष्य परंपरा में गिने जाते हैं। उत्तर प्रदेश में इस नृत्य का अत्यधिक प्रचार है। कत्थक के नृत्यकारों की एक विशेष वेशभूषा – चूड़ीदार पायजामा,

चमकदार शेरवानी तथा कामदार टोपी है जिसे पहन कर वे अपना नृत्य प्रदर्शित करते हैं।

४. मणिपुरी :

जैसा कि नाम से ही विदीत है, इस नृत्य का उद्भव और विकास आसाम की पहाड़ियों के बीच स्थित मणिपुर नामक स्थान पर हुआ। यहां के निवासियों का विश्वास है कि इस नृत्य का आरंभ देवताओं द्वारा हुआ था, इसलिये वह आज भी प्रबल धार्मिक नृत्य के रुप में वहां लोकप्रिय नृत्य है। नृत्य की धार्मिक पृष्ठभूमि होने के कारण धार्मिक उत्सवों तथा त्यौहारों में इसका आयोजन होता है जिसमें स्त्री और पुरुष उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। इसके नृत्यकार के शरीर के घुमाव-फिराव में अत्यधिक लोच और कोमलता होती है, जिससे यह नृत्य अन्यों से बिलकुल भिन्न हो गया है।

इसकी शास्त्रीयता के संबंध में श्री सामर जी का मत है कि मूलतः इसमें शास्त्रीय मुद्राओं और भावाभिव्यंजना को कहीं स्थान नहीं है, परंतु दीर्घ काल तक निरंतर प्रचार और प्रसार के कारण इसका शास्त्रीय पक्ष भी पुष्ट हो गया है।[1] यह अधिकतर मंदिरों तथा गाँवों के चोराहों पर पूर्णिमाकी स्निग्ध रात्रि में होता है और दूर दूर के दर्शक इसे देखने को एकत्र होते हैं। कृष्ण-चरित्र संबंधी इस नृत्य को 'रास' भी कहते हैं जिनमें से मुख्य 'महारास' और 'बसंतरास' हैं जो क्रमशः कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र की पूर्णिमा को संपन्न होते हैं। "मणिपुरी का सबसे प्रसिद्ध नृत्य "लाई हरोब" है जिसमें वनदेवी की आराधना के १२ प्रसंग हैं और संपूर्ण नृत्य के संपन्न होने में १२ दिन का समय लगता है।"[2] इन नृत्यों के गीत बंगाली कीर्तन की शैली के हैं और

[1] देवीलाल सामर : भारतीय ललित कलायें, पृष्ठ ७१ नृत्यकला.
[2] वहीं पृष्ठ ७२, शीर्षक–वही।

अधिकतर जयदेव, विद्यापति, चंडीदास तथा महाप्रभु चैतन्य आदि की रचनाओं से लिये गये हैं। आधुनिक काल में आकर यह नृत्य मणिपुर तक ही सीमित न रहकर सर्वत्र प्रचार और प्रसार पा रहा है। उत्तर भारत के अनेक प्रमुख नगरों में इसको सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कथक के दोषों के कारण प्राचीन शास्त्रीय नियमों से मुक्त कलागत माधुर्य गाभीर्य तथा सौन्दर्य का समावेश करके स्त्री–पुरुषों के सहनृत्य का प्रचार किया था। मणिपुरी नृत्य भी मूलतः शास्त्रीय नियमों से मुक्त रहा है। शांति निकेतन में स्वंय गुरुदेव ने मणिपुरी नृत्य को आश्रय प्रदान किया था। उनका प्रसिद्ध नाटक 'चित्रांगदा' में गीति नृत्य का प्रदर्शन हुआ है। इसी प्रकार विश्व-विख्यात नर्तक उदयशंकर ने अपने नृत्यों में मणिपुरी नृत्य शैली का भी समन्वय किया है। उदयशंकर के नृत्यों की प्रमुख विशेषता दुरुह शास्त्रीय पक्ष को कम करके भाव पक्ष के प्रस्फुटन द्वारा उसे प्रभावशाली एवं सरलता के साथ बोधगम्य बनाना है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक अनेक नृत्यों में मणिपुरी नृत्य शैली का नवीन ढंग से विकास दिखाई पड़ता है।

भारतीय लोकनृत्य :

लोक गीतों की ही भाँति भारतीय लोकनृत्यों की परंपरा अति प्राचीन तथा दीर्घ काल से विकासशील रही है। लोकनृत्यों से हमारा तात्पर्य ग्रामीणों का सुरुचि विहीन ग्राम्य नृत्य से नहीं है, अपितु अनेक लोकनृत्यों का प्रचलन तथा सम्मान तो सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत वर्ग में भी है। उदाहरण स्वरुप बंगाल के व्रतचारी तथा कीर्तन नृत्यों को लिया जा सकता है। व्रतचारी नृत्य के प्रवर्तक श्री सदय दत्त एक प्रमुख आई. सी. यस. अधिकारी थे जिन्होंने युवकों को श्रम, सेवा तथा आनंद के

[1] वही, शीर्षक–वही

आदर्श से परिचित कराने के लिये उसे प्रचलित किया था।[1] इसी प्रकार विवाह आदि संस्कारों, दुर्गापूजा आदि के उत्सवों में भी निम्न तथा उच्च वर्गों के लोगों द्वारा अनेक नृत्य किये जाते हैं जिनके साथ ढोल, मृदंग तथा करताल आदि वाद्य भी बजाये जाते हैं। बंगाल के वीरभूमि, वर्दवान, मुर्शिदाबाद तथा अन्य पश्चिमी जिलों की डोम आदि निम्न जातियों में ' रेबर्शा ' नृत्य प्रचलित है।[2]

शास्त्रीय नृत्यों की दुरूहता प्रायः सर्व साधारण के लिये बोध गम्य नहीं हो पाती; परंतु लोक नृत्य सादगी और रोचकता के कारण अधिक लोकप्रिय होते हैं। यही कारण है कि लोक जीवन में इसका विशेष स्थान है। कई बार यही लोकनृत्य विशेष नियमों द्वारा आबद्ध होकर शास्त्रीय नृत्यों का भी रुप धारण कर लेते हैं, जैसा कि कथकली और मणिपुरी नृत्य के विवरण में हम देख चुके हैं दक्षिण भारत के ' कुचपुड़ी ' तथा ' यक्षगान ' नृत्य इसी प्रकार विकसित हुये हैं, जो आज भी वहाँ के ग्राम्य मनोरंजन के प्रबल साधन बने हुये हैं।[3] कहना न होगा कि इन दोनों नृत्यों की गणना लोक नृत्यों में होती है। इस के अतिरिक्त दक्षिण भारतीय नृत्यों के ' कुम्मी ' और ' कोलटम् ' नामक नृत्य भी अत्यंत लोकप्रिय हैं।

यह उल्लेखनीय है कि प्रायः समस्त भारत के लोक नृत्य पृथक पृथक प्रदेशों की स्थानीय विशेषताओं को लेकर विकसित हुये हैं और उनमें से कइयों का वहाँ के सांस्कृतिक जीवन में अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्थान है।

---

[1] डॉ. पी. के. आचार्य : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ ३०२ शीर्षक—लोक—नृत्य.

[2] वही, शीर्षक-वही।

[3] देवीलाल सामर-भारतीय ललित कलायें, पृष्ठ ७४ लोक-नृत्य.

गुजरात का 'गरबा' या 'गर्बा' नृत्य इस दृष्टी से अत्यंत प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है। इसमें रमणिया विजयादशमी या दीपमालिका के अवसर पर विविध वेशभूषा में सुसज्जित होकर नृत्य करती हुई समवेत गान करती हैं। ये गीत कृष्णलीला से संबंधित होते हैं। कृष्णलीला से संबंधित व्रजभूमि के नृत्य "रास" कहलाते हैं। गर्बा का स्थान केवल ग्राम्य जीवन तक ही सीमित नहीं है, अपितु नगरों में भी इसका सांस्कृतिक गौरव के साथ प्रचार है। राजस्थान में भी ऐसे अनेक सामूहिक लोकनृत्य प्रचलित हैं जो विवाहादि उत्सवों तथा त्यौहारों पर बड़े उत्साहपूर्वक संपन्न किये जाते हैं। इनमें से कुछ व्यावसायिक भी हैं जैसे-कठपुतली, नौटंकी तथा ख्यालके नृत्य। वहां के सार्वजनिक नृत्यों में भीलोंका 'गौरी नृत्य', 'घूमर गेर', शेखावटी का 'गीदड़', कच्छी-घोड़ी तथा बनजारे वालदिये, नट, कंजर आदि के सामूहिक नृत्य विशेष उल्लेखनीय है। उत्तर प्रदेश के धोबी, अहीर, कहार तथा चमारों के नृत्य तथा मिरजापुर की कजरियां बहुत प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त ग्राम्य नृत्यों के अतिरिक्त असभ्य जातियों के भी अनेक ऐसे नृत्य है जिन्हें भी लोकनृत्यों में स्थान दिया जा सकता है। आसाम की असभ्य जातियों द्वारा देवता के संमुख नागक्रम (जिसमें देवता को बकरे की बलि दी जाती है) तथा कुर्की नृत्य (रणनृत्य) अत्यधिक प्रचलित हैं। इसी प्रकार बंगाल, बिहार और उड़ीसा के संथालो के "विवाहनृत्य", "सपत्नीकलह" नृत्य आदि अत्यंत आकर्षक तथा लोकप्रिय हैं। रोगमुक्ति के लिये पुरुषों द्वारा संपन्न होने वाला दक्षिण भारत में प्रचलित एक लोकनृत्य "पिशाचनृत्य" भी है। कहना न होगा कि लोकनृत्य देश की कलात्मक अभिरूचि तथा लोक-संस्कृति के सुंदर परिचायक हैं। आधुनिक काल में अनेक लोकनृत्यों को हीन दृष्टि से देखा जाना आरंभ हो गया था, परंतु स्वतंत्र देश में पुनः लोक जीवन तथा लोकसंस्कृति की ओर उन्मुख भारतीय प्रवृति ने इन लोकनृत्यों का महत्व समझा है तथा उनकी ओर अभिरुचि रखने के साथ साथ उन्हें परिमार्जित रुप में रखने का प्रयास भी आरंभ हो गया है।